

सहजानंद शास्त्रमाला
समयसार प्रवचन
नवम भाग

(निर्जरा अधिकार – गाथा 228-236)

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास
गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

प्रकाशकीय

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्यवर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है। प्रस्तुत पुस्तक 'समयसार प्रवचन नवम भाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/> और www.jainkosh.org वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी राहिंज, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु श्री दीपकजी शास्त्री, इन्दौर का सहयोग रहा है — हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone:94066-82889

Email-vikasnd@gmail.com

www.jainkosh.org

Contents

गाथा २२८.....	6
गाथा २२९.....	45
गाथा २३०.....	50
गाथा २३१.....	64
गाथा २३२.....	73
गाथा २३३.....	79
गाथा २३४.....	83
गाथा २३५.....	88
गाथा २३६.....	93

समयसार-प्रवचन नवम पुस्तक

आत्मा का स्वसमयपना और परसमयपना—समस्त जीव दो श्रेणियों में विभक्त हैं—स्वसमय और परसमय । स्वसमय में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव से लेकर सिद्ध पर्यन्त सब स्वसमय कहलाते हैं । और इसके अतिरिक्त नीचे के गुणस्थान वाले सब जीव परसमय कहलाते हैं । स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा का सहजस्वरूप पहिचान लेते हैं और उन्हें यह अनुभव हो जाता है कि यह स्वयं ज्ञानानन्दस्वरूप है, परिपूर्ण है । बाहर में कुछ करने को नहीं पड़ा है । इस श्रद्धा के बल से उन जीवों में इतना बल प्रकट होता है कि पदार्थों में कैसा ही परिणमन हो, उस परिणमन के कारण अपने में कोई शंका नहीं लाते हैं । सम्यग्दृष्टि जीव आठ गुणों सहित होता है सम्यग्दर्शन अष्ट अंगयुत होता है । जैसे मनुष्य के शरीर में आठ अंग हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी ८ अंग वाला है । मनुष्य का कोई अंग निकल जाये, हाथ टूट जाये तो मनुष्य वह कार्य नहीं कर सकता जो अष्टांग पुरुष कर सकता है । मर तो नहीं जायेगा वह, पर उनमें कोई अंग ऐसा विकट कट जाये कि मर्म घाती हो तो मर भी जाये । इसी तरह इन ८ अंगों में कोई अंग सम्यग्दर्शन का कम हो जाये तो अष्टांग सम्यग्दर्शन का जो फल होता है वह फल इस अंगहीन सम्यक्त्व का नहीं होता है और कदाचित् वह अंग इस तरह से कटे कि सम्यग्दर्शन के मर्म का ही घात कर दे तो सम्यग्दर्शन नष्ट भी हो जाता है ।

सम्यग्दर्शन के अष्ट अङ्ग—सम्यग्दर्शन के ८ अङ्ग ये हैं—निःशंकित, निःकाङ्क्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना । इनका संक्षिप्त स्वरूप यह है कि जिनेन्द्रदेव के वचन में शंका न करना, अपने स्वरूप का संदेह न करना सो निःशंकित अङ्ग है । भोगों की आकांक्षा न करना निःकाङ्क्षित अङ्ग है, धर्मी पुरुषों से ग्लानि न करना निर्विचिकित्सित अङ्ग है, मूढ़ता भरी बात में न बह जाना सो अमूढदृष्टि अङ्ग है, दूसरों के दोषों को अप्रसिद्ध करना उपगूहन अङ्ग है, धर्मी पुरुषों से निष्कपट प्रेम करना वात्सल्य अङ्ग है, धर्म से च्युत हो रहे धर्मी जनों को तन, मन, धन से सहारा लगाना सो स्थितिकरण अङ्ग है और जगत में धर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अङ्ग है ।

दृष्टान्त में देहाङ्ग की तुलना में प्रथम अङ्ग—देखो भैया ! शरीर के ८ अंगों में भी सम्यग्दर्शन के ८ अंगों की तरह कला बस रही है । जब मनुष्य चलता है, मानो एक दाहिना पैर आगे धरता है तो चलते हुए में निःशंक कदम रखता जाता है । कोई शंका भी वह आगे कदम रखने में करता है क्या? जब वह चलता है तो अपना कदम आगे बढ़ाने में कोई शंका तो नहीं करता? कहीं ऐसी शंका वह नहीं करता कि धरती न धंस जाये, मेरा पैर जमीन में न घुस जाये । वह तो निःशंक होकर शूरता के साथ अपना कदम आगे बढ़ाता है । शरीर के ८ अंगों में से दो पैर दो अंग है, दो हाथ दो अंग हैं और वक्षस्थल एक अंग है, पीठ एक अंग है और जिस पर बैठते हैं वह नितंब भी एक अंग है और सिर भी एक अंग है, ऐसे ८ अंग हैं । शरीर के आठ अंगों में भी सम्यग्दर्शन के अंगों जैसी कला भरी हुई है । जब यह मनुष्य चलता है तो अगला पैर निःशंक होकर रखता है । सम्यग्दर्शन में एक निःशंकित अंग कहा है, तो मान लो कि जब दाहिना पैर रखते हैं तो

वह पैर निःशंकित अंग का प्रतिनिधि बन गया ।

द्वितीय, तृतीय व चतुर्थ अङ्ग की तुलना—निःकांक्षित अङ्ग में भोगों की आकांक्षा नहीं रहती है, उपेक्षा रहती है, हटाव रहता है तो जब दाहिना पैर रखा तो पिछले पैर की क्या हालत होती है? उपेक्षा कर देता है, हटा देता है, उस जमीन को देखता भी नहीं है, तो वह दूसरा पिछला पैर निःकांक्षित अंग का प्रतिनिधि बन गया । तीसरा अंग होता है निर्विचिकित्सित अंग । ग्लानि न करना । मनुष्य टट्टी जाता है और बांये हाथ से शुद्धि करता है तिस पर भी किसी भी प्रकार की ग्लानि नहीं करता, यही हुआ निर्विकित्सित अंग । ऐसा यह बांया हाथ निर्विचिकित्सित अंग का प्रतिनिधित्व करता है । चौथा अंग है अमूढदृष्टि अंग । किसी गलत रास्ते में न बह जाना यही है अमूढदृष्टि । इसके बड़ा बल होता है और दृढ़ता के साथ वह अपनी बात पेश करता है, तो यह दाहिना हाथ भी बड़ी दृढ़ता के साथ टेबुल ठोककर अपनी बात पुष्ट करता है । कभी जोर से कहने का मौका आये, किसी बात को यथार्थ जताने का मौका आये तो बांया हाथ नहीं ठोका जाता है, दाहिना हाथ ही ठोका जाता है, यह दृढ़ता गलतफहमियों में नहीं है । यह दृढ़ता से अंगुली मटकाकर कहता है । वस्तुस्वरूप ऐसा ही है तो यह दाहिना हाथ अमूढदृष्टि अंग का प्रतिनिधि बन गया ।

पंचम, षष्ठ, सप्तम व अष्टम अङ्ग की तुलना—इसके बाद है उपगूहन अंग । दोषों को छिपाना । प्रत्येक पुरुष अपने नितंब छिपाते हैं । तौलिया पहिने हों, धोती पहिने हों तो भी छुपाते हैं तो इन नितंबों को छिपाने में वह छिपाना ही उपगूहन का प्रतिनिधि बन गया । इसके बाद का अंग है स्थितिकरण । स्थितिकरण वह कहलाता है कि धर्मात्माओं को स्थिर कर दे, मजबूत कर दे । इनका बोझ खुद उठा ले । तो ठीक है । पीठ ही ऐसी मजबूत है कि उस पर बोझा लाद लिया जाता है । लोग कहते हैं ना कि इस बोझ को पीठ पर लादकर ले जाइए । बड़ा बोझ पीठ पर ही लादा जा सकता है । यह पीठ इस स्थितिकरण अंग का प्रतिनिधि बन गई । इसके बाद है वात्सल्य अंग । वात्सल्य अंग में धर्मात्मा जनों पर निष्कपट प्रीति दर्शायी जाती है । इस वात्सल्य अंग का प्रतिनिधि बनता है हृदय । वात्सल्य हृदय ही करता है, प्रेम करने का कार्य हृदय ही निभाता है । इसके बाद है प्रभावना अंग । प्रभावना का काम सिर से होता है । सिर न हो सारा शरीर हो तो वह बेकार है । सिर न हो, तो प्रभावना का प्रतिनिधि क्या बनेगा? किसी मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है तो मुख मुद्रा से और सिर की चेष्टाओं से पड़ता है । अभी कोई मनुष्य मुंह ढके हुए बैठा हो तो उसका डर नहीं लग सकता । कैसा ही बड़ा पुरुष हो उसका संकोच और लिहाज नहीं किया जा सकता । और उघड़ा हुआ सिर हो तो उसका प्रभाव होता है । तो इस प्रभावना अंग का प्रतिनिधि सिर बन गया ।

शरीर के अंगों की तरह सम्यग्दर्शन के ८ अंग होते हैं । इन्हीं आठ अंगों का इस निर्जराधिकार में वर्णन चलेगा । ये अन्तिम ८ गाथाएँ हैं । निर्जराधिकार में इसमें एक गाथा में एक अङ्ग का वर्णन है । उनमें सर्वप्रथम निःशंकित अंग का वर्णन किया जा रहा है ।

गाथा २२८

सम्माद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिभया तेण ।

सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका ॥२२८॥

ज्ञानी की निर्भयता का कारण—सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि तत्त्वज्ञानी है, अतः निःशंक होता है, इसी कारण से वह निर्भय है, अथवा जिस कारण सम्यग्दृष्टि पुरुष ७ भयों से विमुक्त होता है इस कारण उसे निःशंक कहा गया है । सम्यग्दृष्टि जीव सदा काल ही समस्त कर्मफलों की अभिलाषा से रहित है । इसी कारण अत्यन्त कर्मों से निरपेक्ष है और इसी कारण उनका आत्मा अत्यन्त निःशंक दृढ़तम निर्विकल्प रहता है । ऐसा होता हुआ यह सम्यग्दृष्टि जीव अत्यन्त निर्भय कहा जाता है । भय ७ प्रकार के होते हैं । इस लोक का भय, परलोक का भय, वेदना का भय, अरक्षा का भय, अगुप्ति का भय, मरण का भय और आकस्मिक भय । इन ७ भयों के बारे में क्रमशः वर्णन चलेगा ।

इहलोक भय

इहलोक भय के कुछ उदाहरण—प्रथम भय का नाम है लोकभय । ऐसा भय हो कि इस लोक में हमारी जिन्दगी अच्छी तरह निभेगी या नहीं? क्या हाल होगा, अनेक वृद्ध पुरुषों को देखा जाता है कि उनकी कोई जान पूछ नहीं करता, लोग उनकी परवाह नहीं करते । जब जान लिया कि अब यह किसी काम का नहीं रहा तो उसकी परवाह करने वाला विरला ही सपूत होता है । वृद्धावस्था सबके ही आया करती है । वृद्धावस्था आने पर मेरा क्या हाल होगा, इस प्रकार का भय करना, यह लोकभय है । अथवा बड़ा विकट कानून बन रहा है । अभी जमींदारी मिटने का कानून लगा दिया था तो उससे कितने ही घरबार दुःखी हो गए । स्वर्ण का कंट्रोल कर दिया तो कितने ही दुकानदार उससे परेशान हो गए । मकान किराये का मामला भी विचित्र है । कभी ऐसा कानून बन जाये कि जिस मकान में जो रहता है वह किराये का २० गुना दे दे या कुछ कर दे उसका ही है । ऐसा हो गया तो यह भी गया अथवा चारों ओर से आक्रमण की बात सुनाई दी जा रही है, क्या हाल होगा, इस प्रकार का भय करना यह सब लोक भय है । वर्तमान जिन्दगी में जीवन सम्बंधी, आजीविका सम्बन्धी भय करना लोकभय कहलाता है । यह भय सताता है पर्यायदृष्टि के जीवों को ।

लोक का व्युत्पत्तिपरक आध्यात्मिक भाव—सम्यग्दृष्टि पुरुष तो जानता है कि मेरा लोक मैं हूँ । मेरे से बाहर मेरा लोक नहीं है । जो देखा जाय उसका नाम लोक है । 'देखने' शब्द में कितनी ही धातुएँ हैं--देखना, तकना, अवलोकना, लुकना, लोकना, निरखना, निहारना आदि अनेक धातुएँ हैं । ये दिखने में एक से शब्द हैं, पर इन सब शब्दों के जुदे-जुदे अर्थ हैं । मोटे रूप से एक बात कह देते हैं पर अर्थ जुदे-जुदे हैं । जैसे तकना । तकना वह कहलाता है जो जरा से पोल के अन्दर से देखा जाये । बच्चे लोग खेला करते हैं तो वे तक्का-तक्का से देखते हैं, देख लिया खुश हो गये, इसे कहते हैं तकना । देखना क्या कहलाता है? चक्षुओं से

देखना—देखना कहलाता है। निहारना क्या है? उसका मर्म सोचते हुए, उसके भीतर की परख करते हुए की स्थिति को देखना इसे निहारना कहते हैं। कहते हैं न कि क्या निहारते हो? बड़ी देर से देखना—इसका नाम निहारना है। लोकना क्या है? किसी का पता न हो, स्वयं है, गुप्त होकर कुछ देखा जाये इसका नाम है लोकना। जो लोका जाये उसे लोक कहते हैं। उसे कोई नहीं जान सकता, उसे मैं ही जानता हूँ, ऐसा मेरे द्वारा मैं ही अवलोका जाता हूँ तो यह लोक मैं स्वयं ही हूँ।

परमार्थ इहलोक की विशेषतायें—यह लोक शाश्वत है। मेरा लोक कभी नष्ट होने वाला नहीं है, सदा काल व्यक्त है अथवा सब जीवों में प्रकट है। इस विविक्त आत्मा के शुद्धस्वरूप को तत्त्वज्ञानी पुरुष स्वयं ही केवल देखता है, ऐसा चेतन लोक में यह अकेला ही अवलोकन करता हूँ। इस लोक में कहाँ से हानि है? क्या किसी भी प्रदेश में मेरा विनाश हो सकता है? मेरा क्या, जगत के किसी भी पदार्थ का कभी नाश नहीं हो सकता। परिणतियां बदलें, यह बात अलग है, मगर विनाश नहीं हो सकता है। यह लोक शाश्वत है, सदा काल व्यक्त है। इस लोक में यह आत्मा स्वयं ही एक अकेला अवलोकन करता है, अकेला अवलोका जाता है। इस लोक का कहीं से भी कुछ विनाश नहीं होता है। कैसा ही गड़बड़ कानून बन जावे, मेरा आत्मा शाश्वत है, यह सदा काल रहेगा।

आनन्दमय तत्त्व पर तृष्णा का आघात—भैया ! विचारों की तृष्णा की तो हद नहीं है। तृष्णावश जिस भी परिस्थिति में अपने को दुःखी माना करे तो यह उसकी कल्पना की बात है। परन्तु है आत्मा अविनाशी व क्लेश से रहित। जिसकी जो परिस्थिति है तृष्णा लगी है तो उस परिस्थिति में वह संतोष नहीं करता। उससे आगे की बात सोचता है। अभी मेरे पास कम है, इतना और हो जाये तो ठीक है। सो इस तृष्णा में क्या होता है कि जो वर्तमान में सुख का साधन मिला है उसे ही सुख से नहीं भोग सकता। उस तृष्णा से भविष्य की बात तो हाथ नहीं और हाथ में आई बात का सुख नहीं, इसलिए सब एक से गरीब हैं। लखपति हो तो, करोड़पति हो तो, हजारपति हो तो और भिखारी हो तो जिसके तृष्णा है वही गरीब है। और जब तृष्णा न रहे, जो वर्तमान में पाये हुए समागम को आराम से भोगकर शांति और धर्म की प्रीति रखे, अमीरी तो उसे कहा जायेगा, पर जो जिस परिस्थिति में है वह अपनी परिस्थिति से आगे तृष्णावश कल्पनाएं दौड़ाता है और दुःखी होता है। तो तृष्णा रखने वाले सभी गरीब हो गए।

तृष्णा की गरीबियों की समानता—वैसे शरीर का रोग कोई-सा भी हो, सहा नहीं जाता, उसमें जब छंटनी करने बैठते हैं तो कोई कहता है फोड़ा फुन्सी होने पर कि इससे तो बुखार हो जाने में अच्छा था। आराम से पड़े रहते, मगर यह फोड़ा तो असह्य वेदना कर रहा है। जब जिसके बुखार आता है और शरीर में बड़ी पीड़ा होती है तो वह सोचता है कि इससे तो अच्छा था कि कोई अंगुली टूट जाती या चाकू से छिल जाती, फोड़ा ही हो जाता उससे आराम से बैठा तो रहता। इस तरह से शरीर में जो रोग होता है वह तो असह्य लगते हैं और अन्य रोग सरल लगते हैं। तो अब बतलाओ कि कौन-सा रोग अच्छा है? रोग सब एक से हैं और सभी दुःख के कारण हैं। इसी तरह हजारपति हो, लखपति हो, अरबपति हो, जिसके तृष्णा रहती

है वे सब दुःखी हैं। अरबपति क्या सोचता है कि मेरा सारा मकान यदि कूलर होता तब गर्मी में आनन्द मिलता। गर्मी के दिनों में इतने में कहाँ सुख रखा है? करोड़पति उन अरबपतियों की हालत को देखकर तरसते हैं, सो वे भी चैन से नहीं रह पाते हैं। और कदाचित् धनाढ्य पुरुषों के सत्कार में, प्रशंसा में कुछ कमी हुई तो वहाँ पर भी अंधेरा मच जाता है। यह मोह की नींद का सारा खेल है। तत्त्व कहीं कुछ नहीं रखा है। तृष्णा जिसके लगी है, चाहे करोड़पति हो, चाहे लखपति हो, चाहे हजारपति हो, सभी दुःखी हैं। केवल मोह के स्वप्न में सारा गौरव माना जा रहा है।

आत्मा की परिपूर्णता व निर्भयता—यह मैं लोक सर्वसंकटों से परे हूँ। ज्ञान, दर्शनशक्ति, आनन्द आदि अनन्तगुणों का पिण्ड हूँ। स्वतः परिपूर्ण हूँ, यह मैं पूर्ण हूँ। प्रभु परमात्मा हैं वह तो उभयथा पूर्ण है। प्रभु का स्वभाव और भाव दोनों पूर्ण हैं, हमारा स्वभाव पूर्ण है, मैं परिपूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, अविनाशी हूँ, अनन्त गुणों का पिण्ड हूँ। इस मुझ पूर्ण में से जब जो पर्याय प्रकट होती है वह पर्याय परिपूर्ण ही प्रकट होती है। किसी भी समय की पर्याय अधूरी नहीं। प्रत्येक पर्याय अपने समय में परिपूर्ण ही प्रकट होती है। किसी भी समय की पर्याय अधूरी नहीं रहा करती। प्रत्येक पर्याय अपने में पूर्ण ही हुआ करती है, चाहे विभाव पर्याय हो, या स्वभाव पर्याय हो, कोई भी पर्याय यह प्रार्थना नहीं करती है कि जरा ठहर जाओ, मैं अधूरी ही बन पायी हूँ। प्रत्येक समय में जो परिणमन होता है वह परिणमन पूर्ण ही होता है। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। मैं परिपूर्ण हूँ, प्रभु भी परिपूर्ण है। इस पूर्ण से पूर्ण ही प्रकट होता है। अधूरा कुछ नहीं प्रकट होता है और यह पूर्ण परिणमन प्रकट होकर दूसरे समय में विलीन हो जाता है। तो यह पूरा का पूरा विलीन हो गया, फिर भी यह मैं पूरा का पूरा हूँ, ऐसा परिपूर्ण अविनाशी अखण्ड मैं आत्मा हूँ। इस आत्मा में कहां से भय?

लोक का परमार्थ आधार—मेरा लोक मुझ से बाहर नहीं है। यदि मेरा लोक मुझ से बाहर होता तो बाहर के संयोग वियोग के कारण मेरे लोक में फर्क आ जाता। पर मेरा लोक तो मैं ही हूँ। दुनिया के लोग भी ऐसा कहते हैं, जब किसी का कोई मात्र सहारा मालिक या पिता या स्त्री कोई गुजर जाये तो दुनिया के लोग कहते हैं कि मेरी तो दुनिया लुट गयी। अरे तेरी दुनिया कैसे लुट गई, तेरी दुनिया तेरा निज आत्मा है और अपने को असह्य मान बैठा है यही दुनिया लुट गई। तो मेरी दुनिया मैं ही हूँ, मेरी दुनिया मुझ से बाहर नहीं है। वह तो एक अज्ञानी का कथन है। परमार्थ से तो जब तक अज्ञान है तब तक दुनिया लुटी हुई है और जब ज्ञान होता है तो उसकी दुनिया आबाद रहती है। पर्याय बुद्धि से संयोग अथवा वियोग से बरबादी और आबादी है। परपदार्थ के संयोग वियोग से मेरी दुनिया न आबाद होती है और न लुटती है।

संसार लुटे-पिटों का समूह—भैया ! यह सब लुटे हुए पुरुषों का ही समूह है। इसी को ही संसार कहते हैं। लुटे हुए पुरुषों के समूह का नाम संसार है। कौन-सा ऐसा भाव है जो लुटा हुआ नहीं है? एकेन्द्रिय जीव पेड़ पौधे, पशु पक्षी ये क्या लुटे हुए नहीं है? ये अपना ज्ञान दर्शन सब कैसा गँवा चुके हैं। एक जड़वत् खड़े हुए हैं। ये कीड़े मकोड़े ये अरहंत सिद्ध की तरह प्रभुता वाले जीव होकर कैसी निम्न स्थिति

में आहार, भय, मैथुन, परिग्रह चारों संज्ञाओं के वश होकर लुटे हुए जीवन गुजार रहे हैं। इन पशु पक्षियों की बात देखो। इनका सब कुछ लुटा हुआ है, पराधीन हैं बेचारे। छोटे बालक भी उन्हें डंडे से पीट सकते हैं। अगर तेजी से वह पशु सांस ले-ले तो अपना स्थान छोड़ कर बाहर भग जाते हैं, ऐसे बालक भी उन्हें पीट लेते हैं। ऐसे बलवान पशुओं को भी यह बालक डंडे के वश किए हुए हैं। ये शेर हाथी आदि जिनके बल का बहुत बड़ा विस्तार है—एक दुर्बल मनुष्य भी अंकुश लेकर, बिजली का कोड़ा हाथ में लेकर वश में किए हुए है। जहाँ चाहे घुमाए। जहाँ चाहे उनसे काम कराये। कैसे लुटे हुए हैं ये पशु पक्षी? और मनुष्य भी क्या लुटा हुआ नहीं है? लुटा हुआ है। अपने स्वार्थ की वासना में आसक्त होकर स्वार्थभरी आशा को लिए हुए यत्र तत्र दौड़ रहा है। अपना जो अनन्त आनन्द है, अनन्त ज्ञान है उसकी परवाह नहीं है। क्या ये लुटे हुए नहीं हैं? ये सब लुटे हुए हैं। लुटे हुए जीवों के समूह का नाम संसार है। यह जीव अज्ञान से ही लुट गया है। ज्ञान हुआ कि यह आबाद हो जाता है। मेरा लोक मैं हूँ। स्वयं परिपूर्ण हूँ, मेरा विनाश नहीं है, ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि जीव के होता है, इस कारण वह सदा निःशंक रहता है।

परलोकभय

सम्यग्दृष्टि के परलोकभय का अभाव—सम्यग्दृष्टि जीव के परलोक का भी भय नहीं रहता। परलोक का भय तो मिथ्यादृष्टि को भी नहीं रहता, उसे क्या परवाह पड़ी है? कैसा होगा, क्या न होगा? जो वर्तमान मौज है उसका मौज लेता रहता है, परलोक का भय तो मिथ्यादृष्टि के लट्टमार पद्धति से नहीं रहता है। कदाचित् सम्यग्दृष्टि को परलोक का भय रहता है। हमारा परलोक न बिगड़ जाये, अच्छा समागम आगे मिले। कदाचित् ऐसी कल्पनाएँ भी हो जाती हैं। पर यहाँ प्रकृत विवरण अंतरंग श्रद्धा के भय की ओर से कहा जा रहा है। चूँकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि जैसे यह लोक भी मेरे आत्मतत्त्व से बाहर की चीज नहीं है इसी प्रकार परलोक भी मेरे आत्मतत्त्व से बाहर की चीज नहीं है। कहीं भी होऊंगा यह मैं ही तो होऊंगा। और यह मैं अपनी जानकारी बनाए रहूँ तो कुछ संकट ही नहीं है। संकट तो अपने आपकी जानकारी जब नहीं रहती है तब आते हैं। चाहे किसी भी गति में यह जीव हो, देव भी क्यों न हो, इन्द्र भी क्यों न हो, यदि उसे अपने आत्मा का परिचय नहीं है तो वह संकट में है। राग-द्वेष भरी बाह्य वृत्तियों में वह रहेगा तो संकट अज्ञान में होते हैं। ज्ञान में तो संकट नहीं है। जब-जब भी किसी जीव का संकट किया जा रहा हो, समझना चाहिए कि हम ज्ञानवृत्ति में नहीं हैं, अज्ञान की वृत्ति में लगे हैं।

परलोकभय के अभाव का कारण—भैया ! परलोक अन्य कुछ नहीं है। यह ही शाश्वत एक सदा व्यक्त ज्ञायकस्वरूप यह मैं आत्मा ही इस लोक की भांति परलोक भी हूँ, ऐसा सम्यग्दृष्टि के बोध रहता है। परलोक का भी भय नहीं रहता। इस जीव पर संकट जन्म मरण का लगा है। यहाँ के पुण्योदय से प्राप्त कुछ वैभव में क्या आनन्द मानें? यहाँ के ये सारे समागम मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, उनकी ओर से मुझ में कुछ आता नहीं है। मैं ही उनको विषयभूत बनाकर अज्ञान से कल्पनाएँ किया करता हूँ और दुःखी रहा

करता हूँ । मेरा यह लोक जो मेरे द्वारा लोका जा रहा है वह मेरे अवलोकन में रहे तो वहाँ भय की कुछ बात नहीं है ।

भयास्पद संसार—भयों के स्वरूप की ओर देखो तो यहाँ भयों का भयानक वन है । कैसे-कैसे भव इस संसारी जीव के साथ शुरू से लगे? सबसे निम्न भव निगोद का है । निगोद जीव दो प्रकार के होते हैं—एक सूक्ष्म निगोद और एक बादर निगोद । सूक्ष्म निगोद तो किसी भी वनस्पति के आधार नहीं हैं । यह आकाश में सर्वत्र लोकाकाश में व्यापक हैं । उन्हें अग्नि जला नहीं सकती, जल उन्हें गला नहीं सकता, हवा उन्हें उड़ा नहीं सकता, लाठी की ठोकर उनके लग नहीं सकती । तब क्या वे बड़े सुखी होंगे? आग जलाए नहीं, पानी गलाए नहीं, हवा उड़ाए नहीं, किसी का आघात हो नहीं सकता । ऐसे सूक्ष्म निगोद जीव हैं तो क्या वे सुखी हैं? वे एक सेकेण्ड में २३ बार जन्ममरण कर रहे हैं निरन्तर, जब तक उनके निगोद भव है और जन्म मरण के दुःख का क्या स्वरूप बताया जाये? जो मरता है सो जानता है, जो जन्मता है सो जानता है । जन्म अपना हो चुके बहुत वर्ष व्यतीत हो गए, सो खबर नहीं है कि जन्म के क्या कष्ट होते हैं और मरण अभी आया नहीं है, सो मरण के भी कष्टों का पता नहीं है । इस जीव ने अनन्त जन्म-मरण किए हैं मगर इसका ऐसा कमजोर ज्ञान है कि पूर्व भव के जन्ममरण की तो कथा ही क्या है, इस जन्म की भी याद नहीं है कि कैसे पैदा हुए थे, कैसे कष्ट थे, और जन्म की बात छोड़ो—साल दो साल की उम्र की भी बातें याद नहीं हैं । जब हमारा छोटा बचपन था उस समय कैसी स्थिति में रहते थे, यह कुछ याद नहीं है । जन्म मरण का बड़ा कठिन दुःख होता है ।

निगोद जीवों का संक्षिप्त विवरण—सूक्ष्म निगोद सर्वत्र भरे हैं । जहाँ सिद्ध भगवान विराजे हैं उस जगह सूक्ष्म ही निगोद हैं, साधार निगोद नहीं हैं । बादर निगोद वनस्पतियों के आश्रय रहते हैं । जिन वनस्पतियों के आश्रय रहते हैं उनका नाम है सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति । त्रस जीवों के शरीर में भी बादरनिगोद रहते हैं, पर बादरनिगोद जीव स्वयं वनस्पतिकायिक है । बादरनिगोद की जाति स्थावर में शामिल है । आलू अरबी वगैरह ये स्वयं प्रत्येकवनस्पति हैं । देखने में आने वाले आलू ये निगोद नहीं हैं, ये प्रत्येकवनस्पति हैं । जैसे कि अमरूद, केला आदि खाने वाली चीजें प्रत्येकवनस्पति हैं । इसी तरह आलू आदि भी प्रत्येकवनस्पति है, पर अन्तर यह हो गया कि आलू आदि में साधारणवनस्पति का और निवास है जब कि अमरूद आदि में साधारणवनस्पति का निवास नहीं है ।

भक्ष्यफल की अभक्ष्यता—ये फल जो भक्ष्य हैं जब कोमल अवस्था में होते हैं जिनकी रेखा नहीं निकलती उस समय साधारण वनस्पति रहती है और जैसे ही ये ककड़ी आदि फल बढ़ जाते हैं तो उनमें जवानी होने के चिन्ह प्रकट होते हैं, तब साधारणवनस्पति अपना स्थान छोड़ देता है । फिर अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहलाता है । पहिले वह नहीं खाने योग्य है और बाद में वह खाने योग्य हो जाता है । बहुत कोमल भिण्डी, बहुत कोमल ककड़ी जो बड़ी छोटी-सी रहती है वह सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति है । छोटे में कोई भी हो वह सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति होती है, पर कितनी ही वनस्पतियाँ ऐसी हैं कि पहिले अप्रतिष्ठित

प्रत्येकवनस्पति रही थीं, पर पश्चात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक बन जाती है। ऐसी भी कुछ वनस्पतियां हैं। वे न खाने योग्य वनस्पतियाँ हैं। जो खाने योग्य हैं वे सब प्रारम्भ में सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति होती हैं और बढ़ जाने पर अप्रतिष्ठित प्रत्येक हो जाती हैं।

प्रत्येक शरीरी स्थावरों की विचित्र दशा—निगोद भव से निकला तो स्थावर के भव में देख लो—निगोद जीव तो साधारणवनस्पति है और आलू आदिक साधारणवनस्पति सहित प्रत्येकवनस्पति हैं। स्थावर में चलिए—कैसे-कैसे पेड़, लकड़ से खड़े हैं, आकार प्रकार कैसा है? एक जगह खड़े हैं, कुछ बल नहीं दिखा सकते हैं। जिसने काटा सो काट लिया, छेदा सो छेद लिया। ऐसी उनकी शक्ति की हालत है। हवा की बात देखो। पहियों में टायरों में भर दिया, भरी है १ वर्ष तक। वह हवा जीव ही तो है। उसे फूंकते हैं आग के सामने, तो हवा आग के पास पहुंचती है, या नाना विचित्र दशाएँ होती हैं, और स्वयं कैसा हवा का स्वरूप है, यह अनन्त शक्ति का स्वामी होकर भी इसकी कैसी-कैसी परिस्थितियां होती हैं? जल बन गया, अब घड़े-घड़े में जलकाय भरा हुआ है। पृथ्वी पत्थर के रूप में, जमीन के रूप में, सोना चाँदी के रूप में, कैसे-कैसे ढंग से इसका जन्म होता है?

संसारि प्राणियों की दयनीय दशा—स्थावरों से निकला तो त्रस में दो इन्द्रिय के भव देख लो—केंचुआ, जोक, शंख, कौड़ी, सीप, लट, सुरसुरी कैसे-कैसे भव मिले हैं? अब इन जीवों में सूक्ष्मता से सबमें हड्डियाँ होती हैं, पर केंचुआ कुचल जाये तो हड्डी का पता ही नहीं चलता है। कैसा सूक्ष्म रूप उन इन्द्रियों का बन गया, कैसा शरीर बन गया, ऐसा गंदा भव यह हुआ करता है। तीन इन्द्रिय जीव दो इन्द्रिय से कुछ अच्छा है सम्हला हुआ, शरीर है, कुछ कठोर है, कुछ पैर निकल आए हैं, चल-फिर सकता है, कुछ विकास हुआ है जीव की शरीर रचना में, पर वे भी यत्र तत्र डोलते रहते हैं। खाने पीने की ही उनकी धुन रहती है। कुछ विवेक नहीं है, कुछ बुद्धिमानी की बात नहीं कर सकते हैं। चार इन्द्रिय जीवों में देख लो भौंरा, मक्खी, मच्छर कैसी-कैसी परिस्थितियों के ये भव हैं जिनकी मनुष्य की दृष्टि में कुछ कीमत ही नहीं है। जिनके पैर बाँधकर लोग खेल से मन बहलाया करते हैं। भैया ! पंचेन्द्रिय में देख लो कैसे-कैसे पशु पक्षी पड़े हैं? समुद्र में कैसे-कैसे ढंग के जीव हैं, ये सब कारणपरमात्मा हैं और इनकी ऐसी परिस्थिति है। कैसा मगर का शरीर, कैसा मच्छर का शरीर, गैंडा, हाथी आदि कैसे-कैसे विचित्र शरीर वाले हैं। अज्ञानी नारकी मनुष्य देव का भी भव मिला तो भी क्या। ये ऐसे भयानक भव हैं, पर उन भवों की बात सोचकर जिसे भव से निकलने का मार्ग नहीं मिला है, आत्मस्वरूप परिचय में नहीं आया ऐसे जीवों को उन भवों का बड़ा भय लगता है।

सम्यग्दृष्टि की निर्भयता—सम्यग्दृष्टि जीव चूंकि आत्मस्वरूप का सम्यग्ज्ञान बनाए हुए है, वह जानता है कि यह स्वरूप तो इस स्वरूप मात्र है। उसे इसमें कोई भय नहीं मालूम होता है। भयरहित ही है, ऐसा ज्ञायकस्वरूप अनुभव में आए इनकी यह चर्चा है। और उनके लिए ही यह बात शोभास्पद होती है। जहाँ गए वहाँ यही तो आत्मा है, यही ज्ञानस्वरूप है। एक कोई बहुत बड़ा ऑफीसर हो और उसका कहीं तबादला होने को हो तो बड़े ऑफीसर को तबादले के समय तबादले का जैसा अनुभव भी नहीं होता है कि

मेरा तबादला हो रहा है। नौकर यहाँ भी मिलते हैं और जहाँ जायेगा वहाँ भी नौकर तैयार हैं। उसके जाने में रेलगाड़ी का एक डिब्बा रिजर्व रहता है। नौकर-चाकर ही सब सामान रखें, कोयला धरें तो नौकर-चाकर, गाय भैंस की रक्षा करें तो नौकर-चाकर। उसको तबादले का क्या दुःख है? छोटा आदमी तबादले की बात सुने तो उसे बड़ा दुःख हो जाता है। वहाँ मकान मिलेगा कि न मिलेगा। पहिले अकेले जावें, जब दो चार महीने जम लें तब सबको लिवा ले जायेंगे। समर्थ ऑफिसर के तबादले में कोई संकट नहीं है। वह जानता है कि जैसे यहाँ हैं तैसे ही वहाँ पहुंचेंगे। जैसा यहाँ लोगों का सत्कार है तैसा वहाँ भी सत्कार है। तो ज्ञानी पुरुष जिसने अपने आपको केवल ज्ञानानन्दमय तका है उसका भी तबादला हो, मरण हो तो उसको भय नहीं रहता है। वह जानता है कि यह मैं पूरा का पूरा तो अब यहाँ से जा रहा हूँ। ज्ञानमय स्वरूप पर दृष्टि हो और ऐसी दृष्टि रहते हुए कहीं अवस्थित हो, कहीं गति हो, उसे कोई क्लेश नहीं है, कोई भय नहीं है। भय का कारण परभव नहीं है। भय का कारण स्वरूपदृष्टि से चिग जाना है।

भय का मूल स्वरूपच्युति—भैया ! इस लोक में मरण भी नहीं हो रहा, रोग भी नहीं आ रहे, खाने पीने के संकट भी नहीं आ रहे और स्वरूप से चिगा हुआ है तो उसको वहाँ संकट है। मरण को ही संकट नहीं कहते हैं। स्वरूप से चिगने की स्थिति को संकट कहते हैं। क्या मिलता-जुलता है परवस्तुओं से? पर कैसी खोटी बान पड़ी हुई है कि अपने स्वरूप के स्पर्श में कुछ भी क्षण नहीं गुजार पाता और बाह्य पदार्थों के उपयोग में दौड़ा-दौड़ा फिरता है। ऐसे स्वरूप से न चिगने का दृढ़ संकल्प लिए हुए इस ज्ञानी जीव के सम्बन्ध में कहा जा रहा है कि इसको परलोक का भय नहीं होता, किन्तु निःशंक होकर सतत स्वयं सहजज्ञान का अनुभव करता है। यह सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का वर्णन चल रहा है। किसी प्रकार की सम्यग्दृष्टि को शंका नहीं रहती।

ज्ञानी का निःशङ्क निर्णय—जिनेन्द्र भगवान के वचनों में शंका न करना, यह व्यवहार से निःशंकित अंग है और अपने स्वरूप में शंका न करना, भय न मानना सो यह निश्चय से निःशंकित अंग है। निःशंकितता तभी रहती है जब किसी प्रकार का भय नहीं होता। आखिरी इसका निर्णय शुरू से ही परवस्तुओं में यों रहता है कि कुछ बिगड़ता है बिगड़े, कोई वियुक्त होता है हो, परपरिणति से मुझमें कुछ बिगाड़ नहीं होता। प्राथमिक अवस्था में यह ज्ञानी भले ही थोड़ी शंका करे, पर ऊपरी भय करने पर भी अंतर में इसके सुदृढ़ निर्भयता है। ज्ञानी गृहस्थ है, सम्यग्दृष्टि है, वह सारी व्यवस्था बनाता है और अपने गुजारे के योग्य वस्तुओं का संरक्षण भी करता जाता है पर ऐसी भी हालत में यदि कहीं निर्णय की जैसी बात आए तो वह यही निर्णय देता है कि पर में जो कुछ हो सो हो, उसकी परिणति से मैं अपना विनाश नहीं मान सकूंगा।

ज्ञान की प्रियतमता के प्रसंग में धन और परिजन में प्रियता की छटनी—सबसे अधिक प्रिय आत्मा को ज्ञान होता है। अधिक प्रियपने का लक्षण यह है कि दो पदार्थों को सामने रखो और इन दोनों पदार्थों के बिगड़ने का, नाश किया जाने का कोई अवसर आ रहा हो तो उन दो में से किसको बचाएँ? जिसको बचाएँ उसको समझो प्रिय है। जैसे धन और परिवार के लोग। यदि कोई डाकू आकर धन और परिवार दोनों पर

हमला करते हैं तो यह परिवार को बचाने का यत्न करता है और धन की उपेक्षा करता है । मिट जाओ तो मिट जाओ धन, पर घरवालों की जान तो बचे । यदि ऐसा उद्यम करता है तो बतलाओ कि उसको अधिक प्रिय धन हुआ कि कुटुम्ब के लोग हुए । कुटुम्बी जन अधिक प्रिय हुए ।

ज्ञान की प्रियतमता के प्रसंग में परिजन व स्वयं में प्रियता की छटनी—यदि कुटुम्बीजनों पर और इस खुद पर कोई डाकू गुण्डा हमला करें तो ऐसी स्थिति में प्रकृत्या वह अपनी जान बचाने का यत्न करता है । तो क्या कहा जायेगा कि कुटुम्बी जन और खुद इन दोनों में प्रियतम कौन रहा? खुद का शरीर, खुद की जान ।

ज्ञान की प्रियतमता—जब ज्ञान की उपादेयता साधुता जीवन में आयेगी तो अब वह जंगल में अपनी समता की सिद्धि में लगा है । कोई शेर, स्यालनी या शत्रु साधु की जान लेने को आ रहा है तो उस समय दो प्रकार के प्राणों पर हमला है—द्रव्यप्राण और भावप्राण । एक तो शरीर की जान याने द्रव्यप्राण की जान का हमला हो रहा है और साथ ही उसमें विकल्प रहे, राग रहे, मोह रहे तो ज्ञानस्वरूप भावप्राण के नाश का भी मौका है । जहाँ दोनों प्राण जा रहे हैं ऐसे अवसर पर वह ज्ञानी संत भावप्राणों की रक्षा करेगा और द्रव्यप्राणों की उपेक्षा कर देगा । जान जाती है तो जाओ, पर अपनी ज्ञाननिधि का विनाश नहीं करता । क्योंकि ज्ञाननिधि का विनाश करके जान बचाने का यत्न किया और बचे या न बचे, पर उस यत्न के विकल्प में जन्म-मरण की परम्परा बढ़ना निश्चित है । और एक ज्ञाननिधि बनी रहे और मरण होता हो होने दो, जान जाती है तो जाने दो । अब तक तो अनन्त बार जन्म किया है । ज्ञाननिधि बचा लिया तो जन्म-मरण की परम्परा ही खतम हो जायेगी, ऐसा जानकर वहाँ भी द्रव्यप्राणों की उपेक्षा करता है और भावप्राणों की, चेतन प्राणों की, समता परिणाम की रक्षा करता है । बताओ उन दोनों में कौन प्रिय रहा? चैतन्यप्राण, भावप्राण । वह भावप्राण है ज्ञान । अधिक प्रियतम ज्ञानस्वरूप ही रहा । जगत के कोई पदार्थ हमारे लिए हित में और प्रियतम हैं नहीं ।

परलोक का अर्थमर्म—ज्ञानी जीव का निसर्गतः ज्ञानस्वरूप की ओर झुकाव रहता है। यह मेरा परलोक है, अथवा परलोक मायने उत्कृष्ट लोक। पर मायने उत्कृष्ट के भी है। मेरा उत्कृष्ट लोक यह चैतन्य है। पहले चिट्टियों में लिखा जाता था कि अमुक लाल का परलोक हो गया। परलोक के मायने दूसरे लोक में चला गया—यह मूल में भाव न था, क्योंकि दूसरे लोक में चला गया, इसमें क्या प्रशंसा हुई? यों तो सभी जीव मरकर दूसरे लोक में जाते हैं। परलोक का अर्थ है उत्कृष्ट लोक । अब वे उत्कृष्ट लोक में चले गए । परलोक शब्द की बड़ी ऊंची व्याख्या है । यह परलोक स्वर्गलोक से भी बड़ा है, स्वर्ग उत्कृष्ट नहीं है, परलोक उससे भी उत्कृष्ट हो सकता है । तो परलोक लिखने की पहिले प्रथा थी । स्वर्गलोक लिखने की प्रथा पहिले नहीं थी । जिन्हें पता होगा पुरानी चिट्टियों का वे जानते होंगे । तो परलोक मेरा क्या है? यह ज्ञान स्वरूप, यह मैं स्वयं ही परलोक हूँ, उत्कृष्ट लोक हूँ । इस मुझ परलोक में किसी भी परपदार्थ से कुछ बाधा नहीं आती । हम ही स्वरूप से चिग जाते और अपने आपमें बाधा उत्पन्न कर डालते हैं ।

ज्ञानामृत के अनुभव का भाजन—निज-निज स्वरूपास्तित्व के दृढ़ किले में अवस्थित पदार्थों को निरखने वाले सम्यग्दृष्टि पुरुष इहलोक का भी भय नहीं करते और परलोक का भी भय नहीं करते । वे तो निःशंक होते हुए सतत स्वयं सहज ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव करते हैं । यह ज्ञान ही तो अमृत है । जो न मरे सो अमृत । न मृतं इति अमृतं । ऐसा कौन है जो न मरे? वह आत्मा का सहज ज्ञानस्वरूप है । इसका कभी विनाश नहीं होता । सो ज्ञानी पुरुष इहलोक और परलोक के भय नहीं करता और सतत इस ज्ञान का पान किया करता है । जिन्हें अपने आत्मा का अनुभव करने का यत्न करना हो सीधा यह यत्न करना चाहिए, अपने आपके बारे में अपने को यों निरखना चाहिए कि यह ज्ञानमात्र है । अन्य-अन्यरूप में इसे न निरखो किन्तु जाननस्वरूप, ज्ञान का जो स्वरूप है उसे अपनी दृष्टि में लो और वही-वही स्वरूप ही नजर में, अनुभव में लाने का यत्न करो, और कुछ बात सोचो तो केवल ज्ञिति स्वरूप के द्वार से इसे ज्ञानानुभव होगा । और जो शुद्ध ज्ञान का अनुभव है शुद्ध अर्थात् केवल मात्र जानन का अनुभव है वही आत्मा का अनुभव है । ज्ञानानुभव के द्वार से ही आत्मा का अनुभव हो सकता है । यह ज्ञान निःशंक सतत इस सहज ज्ञान का अनुभव करता है और दोनों लोकों के भय से दूर रहता है ।

वेदना भय

वेदनाभय के निषेध के प्रसंग में वेदना शब्द की निरुक्ति—आज के प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव को वेदना का भय नहीं रहता । अज्ञानी जन इस शरीर को अपना सर्वस्व मानते हैं । इस शरीर में थोड़ा बुखार आदि हरकत होने पर शरीर के अनन्यत्व भाव के कारण अपने में पीड़ा का अनुभव करते हैं । जैसे-जैसे शरीर में अहंबुद्धि ममबुद्धि तथा सम्बन्ध बुद्धि छूट जाती है वैसे ही वैसे जीव की शरीर की अवस्थाओं के कारण पीड़ा उत्पन्न नहीं होती । सुकुमार, सुकौशल, गजकुमार इत्यादि अनेक ऋषियों ने अनेक उपद्रव सहे, पर उन उपद्रवों के बीच उनके शरीर के प्रति अहंबुद्धि न थी इस कारण उन्होंने पीड़ा अनुभव न की । यह सामान्यतया सम्यग्दृष्टि जीव का विचार चल रहा है । वह जानता है कि वेदना तो यह ही एक मात्र है जो निश्चल ज्ञानस्वरूप स्वयं वेदा जाता है । वेदना कहते हैं जो वेदा जाये । तो जानने में परमार्थतः ज्ञानस्वरूप ही आता है ।

वस्तु की स्वतंत्रता—भैया ! जानना ज्ञानगुण का काम है, और ज्ञान की क्रिया ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य वस्तु पर नहीं लगती है । ज्ञान जो कुछ करेगा वह ज्ञान का ही करेगा, परवस्तु का कुछ नहीं करता । ज्ञान परवस्तु का कुछ कर देता है यह सोचना अज्ञान है । करने की बुद्धि का ऐसा अंधकार अज्ञान में छाया रहता कि यह नहीं देखा जा पाता कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, परिणमनशील है, वह अपने आपमें ही अपने को कुछ परिणमा सकता है । किसी अन्य पदार्थ का कुछ नहीं करता है । भले ही आग का निमित्त पाकर पानी गर्म हो गया पर आग ने पानी का कुछ नहीं किया । भले ही सूर्य का निमित्त पाकर यह उजेला हो गया पर सूर्य ने कमरे में घुसकर कुछ नहीं किया । इस प्रकाशमय वातावरण में हम आपके शरीर का निमित्त

पाकर यहाँ यह छाया परिणम गई, फिर भी इस शरीर ने छाया परिणमी हुए जगह में कुछ नहीं किया। यह विभाव, विकार निमित्त बिना होता नहीं है और निमित्त इसे करता कुछ नहीं है ऐसे यथार्थता की बात बड़े विवेक के साथ समझी जा सकती है। यह हुआ एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के प्रति कथन।

एक वस्तु में गुणों का स्वतंत्र स्वतंत्र स्वरूप—भैया ! अब अभेद विवक्षा को एक आत्मद्रव्य में ही देखो इसमें अनन्तगुण भरे हुए हैं। वे समस्त अनन्त गुण केवल अपनी-अपनी क्रियाएं करते हैं। दूसरे गुणों पर उनकी क्रिया आ जाये तो फिर गुण भेद ही क्या रहा? जानन की क्रिया यदि सुख गुण करने लगे तो फिर ज्ञान गुण मानने की जरूरत क्या रही? और इस प्रकार सुख गुण औरों की भी क्रिया करने लगे तो सभी गुणों का अभाव हो गया। और-और गुण सुख की क्रियाएं करने लगे तो सुख गुण का अभाव हो गया। प्रत्येक गुण मात्र अपनी ही क्रियाएं करता है दूसरे गुण की क्रिया नहीं करता है। आत्मा में ज्ञान गुण है वह जानने का ही काम करेगा और अपने गुणों की परिणति से ही जानन का काम करेगा, दूसरे में नहीं। इस तरह जानना जो होता है वह ऐसे ज्ञान का ही जानन होता है।

परज्ञातृत्व के मन्तव्य का अवकाश—भैया ! जानन ने क्या किया, निश्चय से बताओ। जानन में जानन ही आया। पर जानन में जो आकार झलका, जो बाह्य अर्थ का ग्रहण हुआ विषय बना उस पर दृष्टि पहुंचती है और इस दृष्टि में यह मोही, यह अज्ञानी यह कहता है कि मैंने मकान, घर दूकान जान लिया आदि, पर जानता कोई किसी अन्य को अन्य नहीं है। सब अपने आपको ही जानते रहते हैं। दूसरे को कोई नहीं जानते हैं। दूसरे की तो बात दूर रही, अपने आत्मा में जो अनन्तगुण हैं उन गुणों में से ज्ञानगुण केवल ज्ञान को ही जानता है, अन्य गुणों को नहीं जानता, अन्यत्र क्रिया नहीं करता उपादान रूप से एक बनकर, हाँ विषय सब होते हैं। ज्ञान के विषय में जैसे ये बाह्यपदार्थ आ रहे हैं इसी प्रकार ज्ञान के विषय में आत्मा के ही दर्शन चारित्र सुख आदि गुण आते हैं। तो जैसे ज्ञान के ज्ञेय ये बाह्यपदार्थ बनते हैं इसी प्रकार ज्ञान के ज्ञेय आत्मा के अन्य गुण भी बनते हैं।

ज्ञान की ज्ञान में गति की परमार्थता—इस आत्मा के द्वारा क्या वेदा जाता है, क्या अनुभवा जाता है, इसकी चर्चा चल रही है। ज्ञान के द्वारा परद्रव्यों को नहीं अनुभवा जाता किन्तु ज्ञान के द्वारा स्व ही अनुभवा जाता है। परद्रव्य ज्ञान के विषय होते हैं तो विषय के लक्ष्य करने वाले लोग प्रायः ज्ञान की क्रिया का उपचार करते हैं। मैंने किवाड़ जाना। अरे मैं यहाँ रहता, अपने प्रदेश में बैठा, मेरा कार्य कहीं मेरे से बाहर हो जायेगा? किसी भी द्रव्य की क्रिया उस द्रव्य के बाहर नहीं होती है। फिर मेरा ज्ञान किवाड़ में कैसे चला गया? और सब लोग कहते हैं, निषेध किया जाये तो सब लोग झूठ मानेंगे। सारी दुनिया तो जानती है कि हमने घर जाना, किवाड़ जाना और मना किया जा रहा है कि आत्मा किसी परद्रव्य को जानता ही नहीं। अचरज होता है, किन्तु अब युक्ति और विवेक का आश्रय लेकर आगे बढ़िये, तब यह बात स्पष्ट हो जाती है जब इस पुद्गल को देखते हैं तो पुद्गल की क्रिया पुद्गल में ही होती है, किसी अन्य द्रव्य पर नहीं होती है। यह बात बहुत स्पष्ट ज्ञान में आती है। एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जिसका संदेह होने लगता कि ज्ञान

परद्रव्यों में क्यों न जाना चाहिए? यह भी ज्ञान की ही महिमा है ।

आनन्द गुण की परिणति का आधार—भैया ! अन्य गुणों के भी काम की बात देखो—आनन्दगुण आनन्दपरिणमन करता है । क्या मेरा आनन्दगुण आपके आनन्द का परिणमन कर सकता है? कभी नहीं कर सकता है । इसमें भी मोही जनों को संदेह हो सकता है । देखा तो जाता है कि पिता पुत्र को सुखी करता है । अमुक अमुक को आनन्द देता है फिर कैसे मना किया जा रहा है? इसमें भी संदेह मोही जनों को हो सकता है पर ज्ञान की अपेक्षा आनन्द की स्वतंत्रता जरा जल्दी समझ में आ सकती है, हम अपने आनन्द का ही परिणमन किया करते हैं, दूसरे जीवों के आनन्द का परिणमन नहीं कर सकते । मुझमें शक्ति नहीं है कि मैं किसी दूसरे द्रव्य में कुछ कर दूँ ।

श्रद्धा गुण की परिणति का आधार—और भी गुण ले लीजिए । श्रद्धा है, मायने विश्वास करना है । हम अपने आपका श्रद्धान बना सकते हैं या दूसरे जीवों का श्रद्धान बना सकते हैं? यह आनन्दगुण की अपेक्षा और जल्दी समझ में आयेगा । इसकी भिन्नता से हम मात्र अपने आपमें अपने आपका श्रद्धान कर सकते हैं, दूसरे जीवों के श्रद्धान का परिणमन हम नहीं बना सकते । तभी तो बहुत-बहुत समझाना पड़ता है अजी आप विश्वास रखो ऐसा ही होगा । आपको विश्वास में कमी नहीं करना है । फिर भी दूसरा हिचकिचाता है । जब तक उसका श्रद्धान अपने आपमें विश्वासरूप नहीं परिणम जाता है तब तक हिचकिचाता रहता है । आत्मा में श्रद्धा गुण है और उस श्रद्धागुण का कार्य अपने आपके आत्मा में होता है, परपदार्थों में नहीं होता है । इसी तरह आनन्दगुण का कार्य अपने आपमें होता है किसी पर में नहीं होता है । इस प्रकार ज्ञानगुण की क्रिया अपने ही ज्ञानगुण में होती है, न अपने अन्य गुण में होती है और न अन्य द्रव्य में होती है । ज्ञान की क्रिया है जानन । जानन किसी परवस्तु के लिए नहीं होता । जानन अपने द्वारा होता है, अपने लिए होता है, अपने में होता है ।

पदार्थ के सत्त्व का प्रयोजन—भैया ! एक बात विशेष यह जानना है कि ये द्रव्य सब क्यों हैं, इनकी क्या जरूरत है? ये द्रव्य होकर अपना कौन-सा मतलब साध रहे हैं? न होते तो क्या था? तो यह प्रश्न तो उठता नहीं कि ये द्रव्य न होते तो क्या नुकसान था, क्योंकि ये हैं । अब हैं तो यह देखिए कि ये क्यों हैं, और ये द्रव्य अपना सत्त्व रखकर अपना कौन-सा प्रयोजन साध रहे हैं? तो एक नियम है कि परद्रव्यों का काम परिणमन उत्पाद व्यय अपना सत्त्व रखने भर के लिए होता है, उनका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं । पदार्थ सब परिणमते हैं । वे सब अपना सत्त्व बनाए रहने के लिए परिणमते हैं, इससे आगे उनका प्रयोजन नहीं है । सो पुद्गल की यह बात जल्दी समझ में आ जाती है । ये पुद्गलद्रव्य हैं, इनका प्रयोजन अपने आपकी सत्ता बनाए रहना है और कुछ नहीं है । ये अपने आपसे बाहर अपनी कुछ हरकत नहीं करते । इनका और कोई प्रयोजन नहीं ।

सत्त्व के प्रयोजन के कुछ उदाहरण—ईंधन पड़ा है, जल जाये तो जल जाये । उस ईंधन का यह प्रयोजन नहीं है कि जलूँ नहीं, ऐसा ही बना रहूँ । पुद्गल है, जो होगा सो होगा । उसे क्लेश नहीं होता है ।

परिणम गया, राख बन गया, पर सत्त्व नहीं छोड़ा। पुद्गल के परिणमन का प्रयोजन अपनी सत्ता कायम बनाए रहना है। और क्या प्रयोजन है? यह घड़ी क्रिया कर रही है, क्या इसका यह प्रयोजन है कि सबको समय बताकर परोपकारशील बनी रहे? यह प्रयोजन घड़ी का नहीं है। इसे तो अपनी क्रिया करने भर का प्रयोजन है। हम आप देख लें तो देख लें, न देखें तो न सही। प्रत्येक पदार्थ परिणमते हैं। उनका प्रयोजन किसी को दुखी अथवा सुखी करने का नहीं है। वे मिले हैं तो सुखी करने के लिए नहीं मिले हैं और बिछुड़ते हैं तो दुःखी करने के लिए नहीं बिछुड़ते हैं। उन पदार्थों का प्रयोजन अपनी सत्ता कायम रखना है और अन्य प्रयोजन नहीं है। और सत्ता कायम रखना भी कोई बुद्धिपूर्वक प्रयोजन नहीं है। वस्तु का सत् सदा प्रयोजक है। पदार्थ का प्रयोजनमात्र अपनी सत्ता रखना है। ये अपने नानारूप परिणमते रहते हैं। उन सब परिणमनों का प्रयोजन अपनी सत्ता बनाए रहना है, और कुछ नहीं है।

प्रत्येक गुण की प्रतिक्षण भावक्रियाशीलता—सत्त्व के परमार्थ प्रयोजन के अतिरिक्त सब मोह की कल्पना है, इन्द्रजाल है। इन्द्रजाल किसे कहते हैं? इन्द्र मायने आत्मा और जाल मायने मायावी रूप। यह जो हम आप सबका झमेला है वह सब इन्द्रजाल है। यह सब मोह की कल्पना भर है पर परमार्थ प्रयोजन नहीं है। और विशेषता से चलो तो प्रत्येक गुण का प्रयोजन चूँकि विशेषता लेकर कहा जा रहा है, अपनी-अपनी क्रिया करना है, कोई सत् खाली नहीं रह सकता। जो बड़ा काम करने वाला पुरुष है वह निरन्तर काम करता रहता है और जो महाआलसी पुरुष है वह भी निरन्तर काम करता रहता है। कर्मठ पुरुष अपने मन, वचन, काय की तरह-तरह की चेष्टाएं करके काम करता है तो प्रमादी पुरुष का मन क्या खाली रहता है? विकल्प नहीं करता है क्या? मन का काम बराबर चलता रहता है। शरीर का कार्य प्रतिसमय चल रहा है। रूप, रस, गंध, स्पर्श का प्रतिसमय परिणमन चल रहा है। और अपने में ही जगत के बीच में दौड़ लगाए जा रहा है। उनका खूब दौड़ हो रहा है मुर्दा तो बन ही नहीं सकता। पर प्रत्येक जीव निरन्तर कुछ न कुछ काम करता है।

प्रत्येक गुण का अपना-अपना स्वतंत्र कार्य व प्रयोजन—इस जीव में भेदरूप से गुणों को देखें तो प्रत्येक गुण निरन्तर अपना कार्य कर रहा है। ज्ञान की क्रिया जानना है। सो ज्ञान जानता रहता है। श्रद्धा की क्रिया कुछ न कुछ विश्वास बनाए रहती है, सो प्रत्येक जीव में देखो कुछ न कुछ विश्वास बना हुआ है। आनन्दगुण का काम आनन्द की किसी अवस्थारूप परिणमना है। सो देख लो—कोई जीव दुःखरूप परिणम रहा है, कोई सुखरूप परिणम रहा है, वह भी तो आनन्द का परिणमन है। और कोई आनन्दरूप ही परिणम रहा है तो वह आनन्दगुण का परिणमन है, यह ज्ञान जाननरूप परिणमता है। और इसके जानने का प्रयोजन क्या है? यह ज्ञान जानन क्यों करता है? जानन के लिए जानता रहता है। इस ज्ञान का जानन से अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है। विषय साधना, राग-द्वेष करना ये प्रयोजन ज्ञान के नहीं हैं। ज्ञान की क्रिया होती है वह जानकर समाप्त हो जाती है जानन से आगे नहीं बढ़ती है। शरीर में कुछ बुखार फोड़ा आदि हरकत हो रहे हों, उस समय में यह जीव जानता है। किसे जानता है? ज्ञान को जानता है। सम्यग्दृष्टि

जीव की विचारधारा चल रही है। ज्ञानी संत पुरुष समझ रहा है कि यह वेदना क्या चीज होती है और किसलिये होती है?

परमार्थतः वेदना का दिग्दर्शन—यह वेदना भय का प्रकरण है कि सम्यग्दृष्टि जीव के वेदना का भय नहीं होता। वेदना यह ही है कि जो अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। ज्ञान अन्य को वेद ही नहीं सकता। अहंत्व बुद्धि रखकर राग भाव के कारण कल्पना करता है कि मैं ठंडा हो गया, मुझे बुखार आ गया। मेरे में धौंकन हो रही। रागवश यह अनुभवा जाता है। परमार्थतः यह जीव अपने ज्ञान को ही वेद रहा है। जैसे आम चूसते हुए में यह जीव आम के रस का अनुभवन नहीं कर सकता है। कल्पना करता है कि मैंने आम के रस का स्वाद लिया, चूस लिया, पर वस्तुतः आम के रसविषयक ज्ञान को करता है, उसके साथ राग लगा है इस कारण उस प्रकार का सुख परिणमन करता है और साथ में अज्ञान लगा है इसलिए आम की ओर आकृष्ट होता है। और समझता है कि मैंने आम से सुख पाया। यह जीव आम के रस का अनुभव नहीं कर सकता। आम के रसविषयक ज्ञान का अनुभव करता है। यह जीव शरीर की पीड़ा का अनुभव नहीं कर सकता, शरीरविषयक हरकतों के ज्ञान का अनुभव कर सकता है। साथ ही राग लगा हो तो संक्लेशरूप परिणमन बन जायेगा, पर शरीर की वेदना को यह जीव नहीं जानता है।

अनाकुल वेदना—जीव को केवल एक यह वेदना होती है जो यह अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। किस प्रकार वेदा जाता है? अनाकुलरूप होकर वेदा जाता है। आकुलरूप होकर तो परपदार्थ ही लक्ष्य में आयेंगे, स्वपदार्थ न आयेगा। अनाकुल होकर तो यह विश्वास जमेगा कि यह मैं तो केवल ज्ञान को ही वेदा करता हूँ, अन्य किसी को नहीं जानता। ऐसा ज्ञान कैसे हो जाता है? जब यह वेद्य-वेदक भाव को निर्भेद करता अर्थात् जानता हुआ भाव और जानने वाला भाव इनको निर्भेद रूप से जानता हो। ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं उठता ऐसी स्थिति में अनाकुल होकर इस सम्यग्दृष्टि जीव का जीवन यह एक अचल ज्ञान स्वयं वेदा जाता है। ऐसा अनुभव होने के बाद उसकी यह दृढ़ श्रद्धा होती है कि बाह्य पदार्थों से तो वेदना ही नहीं आया करती है।

एकक्षेत्रावगाहिता में भी पृथक्त्व—जैसे घर में रहते हुए घर के किसी कुटुम्ब में मन न मिले तो घर में रहते हुए भी आप न्यारे माने जाते हैं। जब प्रीति नहीं है, मन ही नहीं मिलता है, मुख मोड़े रहते हो तो घर में रहते हुए आप न्यारे हो रहे हैं। ऐसे ही यह शरीर और जीव एक क्षेत्रावगाह में है। जिस आकाशवृत्ति में जीव है उसी आकाशवृत्ति में शरीर है और जिस निज क्षेत्र में आत्मा है उसके साथ-साथ यह शरीर है, फिर भी यह आत्मा इस शरीर से प्रेम नहीं कर रहा, इसका मन ही शरीर में नहीं रहा, शरीर से उपेक्षा करता है, अपने ज्ञानस्वरूप परिणमन रूप हित की धुन में रहता है, तो यह तो शरीर से जुदा ही है, अथवा जैसे एक पुत्र से मन नहीं मिल रहा है, पुत्र से आप जुदा हैं और एक दिन को कहकर दालान में ठहरा हुआ मुसाफिर है उससे मन नहीं मिल रहा है, जुदा है, इसी तरह ये जुदा-जुदा हैं। उस ही एक क्षेत्रावगाह में अनेक पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल पड़े हुए हैं जिनका कि बंधन कुछ नहीं है। उनसे भी इस ज्ञानी का मन

नहीं मिल रहा है और निमित्त-नैमित्तिक बंधन रूप पड़े हुए इन शरीर अणुओं से भी मन नहीं मिल रहा है, यह ज्ञानी उन समस्त परपदार्थों से जुदा है। तो इस मुझ आत्मा से अत्यन्त जुदा जो शरीर है या अन्य भी कोई द्रव्य हो उसके इसकी वेदना ही नहीं है, तो फिर ज्ञानी जीव के शरीरादिक अन्य पदार्थों का भय कैसे हो सकता है?

शरीरवेदनाभय के अभाव का एक उदाहरण—भैया ! देखो पुराण समय में कैसे-कैसे पुरुष हो गए—सनत्कुमार चक्रवर्ती मुनि अवस्था के बाद पूर्व कर्मोदयवश जब उनके कोढ़ निकल आया तो एक देव ने आकर उनकी परीक्षा करना चाहा कि इनकी बड़ी प्रशंसा सुनी जा रही है कि अपनी श्रद्धा में, आचरण में, लगन में बड़े पक्के हैं सो देखें तो सही। वह देव वैद्य का रूप बनाकर सड़क पर चलता हुआ वह पुकारता जाये कि मेरे पास करोड़ की पेटेण्ट औषधि है—इस औषधि के लगाते ही सारा कोढ़ समाप्त हो जाता है। पुकारता हुआ वह साधु महाराज के पास पहुंच गया, बोला कि महाराज ! आप संतपुरुष हैं, क्या हम आपकी थोड़ी सेवा कर सकते हैं? साधु महाराज ने कहा कि हमें इस कोढ़ की परवाह नहीं है—हमें तो जन्म मरण और भव रोग मिटाने की परवाह है, अगर तुम मेरे आंतरिक रोग मिटा सके तो हम तुम्हारी सेवा लेने को तैयार हैं। वह देव चरण में गिर गया, बोला—महाराज उस रोग के वैद्य तो आप ही हैं। हम जैसे किंकरों से यह कहाँ बन सकता है? भयानक उपसर्गों के भयानक रोगों के प्रतिकार की वाञ्छा न की जाये, यह किसी विशेष बल पर ही तो सम्भव है। वह विशेष बल है ज्ञान का।

ज्ञानबल का प्रताप—निज ज्ञानस्वरूप के अनुभव का बल, समस्त परवस्तुओं से पृथक् ज्ञानमात्र अपने के अनुभव कर चुकने का बल, जिसके यह दृढ़ संकल्प रहता है कि परवस्तु किसी भी रूप परिणमे उसके किसी भी परिणमन से यहाँ रंच भी प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि मैं ही अपने आपका परिणमन करूँ तो अपने आप प्रभावित होता हूँ, दूसरे पदार्थों से मैं प्रभावित नहीं होता, ऐसा वस्तु स्वातन्त्र्य का भान सम्यग्दृष्टि पुरुष के होता है। जब अन्य पदार्थों से इस आत्मतत्त्व में कोई वेदना ही नहीं आती तो पर-वेदना का क्या भय? ज्ञानी जीव ऐसा जानता हुआ निःशंक रहता है। कुछ थोड़ीसी तबीयत खराब होने पर बड़ी खराब तबीयत का नक्शा खींच लिया जाता है और मोही जीव दुःखी होता है, यह न जाने अन्यरूप रख ले फिर क्या होगा?

ज्ञान के अनागत व आगतभय का अभाव—भैया ! जितना डर सामने आई हुई विपत्तियों का नहीं होता उतना डर अपने विकल्पों में आने वाली विपत्तियों का होता है। दरिद्रता कदाचित आ जाये उसमें अपना जीवन काट लेगा, मगर विकल्प ऐसा हो जाये कि यदि हमारा नुकसान हो गया तो फिर कैसे गुजारा होगा? उसमें पीड़ा अधिक होती है। गुजर जाये कोई इष्ट तो वह सह लेगा, पर विकल्प आ जाये तो उसकी बड़ी पीड़ा मालूम होती है। नरकगति के दुःख यह जीव सह लेता है, सहते ही हैं, सहने के आदी हो जाते हैं पर यहाँ नरकगति के दुःखों का जब वर्णन सुना जाता है तो दिल काँप जाता है। ओह कैसे-कैसे दुःख नरक में भोगे जाते हैं? तो यह विकल्पों का दुःख बड़ा कठिन दुःख होता है। ज्ञानी जीव के विकल्प ही नहीं होता है। इसलिए उसके ऐसी बात भी उपस्थित नहीं होती है। वह जानता है कि अपने स्वरूपास्तित्व के दृढ़ किले

से गढ़ा हुआ यह मैं किसी अन्य के द्वारा बाधित नहीं हो सकता । इस शरीरादि से वेदना ही नहीं उत्पन्न होती । अतः निर्भय और निःशंक होता हुआ यह ज्ञानी पुरुष स्वयं सदा सहज ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव किया करता है ।

अत्राण भय

ज्ञानी के अत्राणभय का अभाव—ज्ञानी पुरुष को भय नहीं रहता है, इस प्रकरण में आज अत्राण का भय ज्ञानी पुरुष को नहीं रहता है—इसका वर्णन होगा । जो पदार्थ सत् है वह नाश को प्राप्त नहीं होता है । यह वस्तु की स्थिति है । जो सत् है वह सत् के कारण अविनाशी हुआ करता है । यहाँ उसका सर्वथा अभाव कैसे किया जा सकता है? चाहे पानी का हवा हो जाये, हवा का पानी बन जाये फिर भी सद्भूत तत्त्व तो रहता ही है । सत् का कभी अभाव नहीं होता । ज्ञान स्वयं सत् है । यहाँ ज्ञान के कहने से ज्ञानमय द्रव्य को ग्रहण करना चाहिए । यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व स्वयमेव सत् है, फिर दूसरे पुरुषों से इसकी क्या रक्षा कराना है? अज्ञानी जीव को यह भय रहा करता है कि मेरी रक्षा हुई या न हुई । मेरी रक्षा किससे होगी? पराधीन भाव वह बनाए रहता है, परोन्मुख रहता है । ज्ञानी सोचता है कि इसका तो कभी नाश ही नहीं होता है क्योंकि यह सत् है, फिर दूसरे से क्या रक्षा की याचना करना? अतः ज्ञानी के अत्राण का भय नहीं होता ।

स्वरक्षा के प्रति ज्ञानी की दृढ़ धारण—इस ज्ञान का अरक्षा करने वाला कुछ भी नहीं है । है कोई ऐसा पदार्थ जो इस ज्ञानमय सत् का अभाव कर डाले? जो सत् है वह सत् ही रहेगा । किसी भी सत् को कुचलकर, पीटकर, जलाकर क्या अभाव किया जा सकेगा? नहीं । पुद्गल घाटे पीटे जा सकते हैं तिन तक का तो अभाव है नहीं, फिर जो अमूर्त है, ग्रहण में नहीं आता ऐसे इस चैतन्य सत् के अभाव की क्या कल्पना की जा सकती है? इसकी किसी भी पदार्थ से अरक्षा नहीं है । कदाचित् मरण भी हो जाये तो भी यह अरक्षा में नहीं है । इसका नाता शरीर से नहीं है । आत्मा का नाता अपने स्वरूप से है, जिससे इसका सम्बंध है उससे यह कभी अलग नहीं होता । इतना ही तो ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर है । अज्ञानी का आत्मा शरीर से सम्बंध जोड़ता है और ज्ञानी का आत्मा शरीर से पृथक् अपने स्वरूपसर्वस्व रूप अपने को तका करता है । शरीर भी छूट जाये तब भी मैं स्वरक्षित हूँ । यहाँ से कहीं भी चला जाऊँ तब भी मैं स्वरक्षित हूँ । इसकी अरक्षा नहीं हो सकती है । फिर ज्ञानीजीव को भय कहां से हो? वह निःशंक होता हुआ सतत् सहज ज्ञान का ही अनुभव करता है ।

किसी के द्वारा किसी दूसरे की रक्षा का असंभवता—वैसे तो लौकिक अरक्षा की दृष्टि से भी देखो तो उदय लौकिक रक्षा के योग्य है, पुण्य है तो लौकिक अरक्षा भी कोई नहीं कर सकता । और कभी न रहा इतना पुण्य तो लौकिक अरक्षा में स्वयं पहुंच जायेगा । परमार्थ से तो रक्षा है पवित्र भाव, स्वभावदृष्टि का स्वावलम्बन का भाव और अरक्षा है परालम्बी भाव । सो स्वावलम्बी भाव में रहते हुए के अरक्षा का कोई प्रश्न ही नहीं होता । वह तो स्वयं अरक्षित है । परावलम्बी भाव में तो मूढ़ जीव स्वयं की भी रक्षा नहीं कर सकता

है, दूसरे की तो बात ही क्या है? दूसरे तो कदाचित् भी दूसरे की रक्षा नहीं कर सकते हैं ।

पर से पर की अरक्षा का एक उदाहरण—एक पौराणिक कथा है कि देवरति राजा अपनी रानी रक्ता में रत थे । सो राज्य की प्रजा व मंत्रियों ने राजा से कहा कि महाराज या तो राज्य का प्रबंध कीजिए या राज्य को छोड़ रानी को लेकर चले जाइए । हम सोसाइटी के लोग राज्य का प्रबंध करेंगे । उसे राज्य मंजूर न हुआ और रक्ता रानी को ले जाकर राज्य छोड़कर चल दिया । दूसरे के राज्य, एक शहर के किनारे वे दोनों एक दो दिन को ठहर गए । वहाँ राजा तो गया था शहर में कुछ सामान लेने और वहाँ खेत पर एक चरस हांकने वाला कूबड़ा, लंगड़ा चरस हाँक रहा था । और अच्छा सुरीला गाना गा रहा था । रानी गायन की बड़ी शौकीन थी । तो उसे वह गायन सुहा गया । और उसके पास जाकर उससे रानी बहुत कुछ कहने लगी कि तुम घर छोड़कर हमारे संग चलो तो कुबड़ा बोला कि तुम तो राजा की रानी हो, राजा सुनेगा तो हमारा भी सिर छेद करेगा और आपका भी सिर छेद करेगा । रानी बोली कि तुम कुछ परवाह न करो । अब वह उदास होकर बैठ गई । राजा ने पूछा कि क्या बात है? रानी ने कहा कि आज आपकी वर्षगाँठ का दिन है । तुम राजमहल में होते तो बड़े सिंहासन पर बैठाकर आपका समारोह मनाती । यहाँ जंगल में क्या करें? राजा बोला कि जो चाहो सो कर सकती हो । रानी ने कहा कि अच्छा फूल मंगाओ, डोरा मंगाओ । राजा ने फूल व डोरा मंगा लिया । अब रानी ने मोटे धागे में फूलों के हार १०-१५ बनाये और कहा कि यहाँ महल तो है नहीं, यह पर्वत है सो उस पर्वत की चोटी पर चलो, मैं आपका समारोह करूंगी । चढ़ गए दोनों उस पहाड़ की चोटी पर । वहाँ पर राजा को बिठाकर चारों ओर से बाँध दिया और जब देख लिया कि अब राजा पूरे बंधन में आ गया तो वहाँ से धक्का लगा दिया । अब वहाँ से लुढ़कते-लुढ़कते राजा कहीं पहुंचा हो ।

कुबुद्धि का नाच—रक्ता को क्या मालूम कि राजा कहां गिरा है? वह तो खुशी से नीचे आई और कूबड़े को लेकर चल दी । पेट तो भरना ही है, सो एक चौड़ी डलिया लिया जिसमें बच्चे झूलते हैं । उस डलिया में कूबड़े को बिठाकर सिर पर रखकर जगह-जगह जाये । यह रक्ता नाचे, कुबड़ा गाये, जो कुछ मांगने से पैसे मिलें उनसे दोनों अपना पेट भरें । उधर देवरति राजा लुढ़कते हुए नदी में जा गिरे और उसमें बहकर किसी देश के किनारे में जा लगे । उसी समय उस देश का राजा मर गया था, सो मंत्रियों ने एक गजराज हाथी की सूंड में माला डालकर छोड़ दिया और यह तय किया कि यह हाथी जिस किसी के गले में यह माला डाल देगा उसे राजा बनाया जायेगा । उस हाथी ने घूम फिरकर उस देवरति के गले में वह माला डाल दी । अब तो देवरति राजा हो गया । उधर रक्ता अपने सिर पर डलिया रखे और उस पर कूबड़े को बिठाये घूम फिर रही थी और यह प्रसिद्ध कर रही थी कि मैं पतिभक्त हूँ । दोनों घूमते फिरते राजदरबार में पहुंचे । रक्ता को क्या मालूम कि वह राजा यहाँ का राजा बन गया होगा? उसे तो यही मालूम था कि वह राजा मर गया होगा । वहाँ भी रक्ता नाचे और कूबड़ा गाए । ऐसा देखते ही देवरति को वैराग्य हो गया कि ओह कर्मों का उदय ऐसा है ।

लोक में स्वकर्मानुसार रक्षा का एक दृष्टान्त एवं सर्व सत् की स्वयं सुरक्षा—भैया ! जिसका उदय

अच्छा है उसके स्वयमेव रक्षा का प्रयत्न बन जाता है। श्रीपाल को धवल सेठ ने समुद्र में गिरा दिया, श्रीपाल किसी लकड़ी या किसी अन्य चीज का सहारा पाकर किनारे पहुँच गए। उस राज्य के राजा का यह वचन था कि जो इस समुद्र को तैरता हुआ किनारे आए उसे आधा राज्य देंगे और अपनी लड़की की शादी कर देंगे। इस कथा को सभी जानते हैं। तो जिसका उदय अच्छा है उसकी रक्षा स्वयमेव हो जाती है। जिसका उदय खोटा है उसकी दूसरा कौन रक्षा करेगा? खोटे लोग अपनी कल्पना में अरक्षित हैं फिर भी पदार्थों के स्वरूप की ओर से उदय खोटा हो तो, अच्छा हो तो, इस चेतन वस्तु का नाश कभी नहीं होता। किसी भी परिस्थिति में यह चेतन रहे रक्षित है। चेतन की ही बात क्या, प्रत्येक पदार्थ रक्षित है। किसी का कोई क्या बिगाड़ करेगा, वे नष्ट हो ही नहीं सकते। सत् का स्वयं सिद्ध अधिकार है कि डट कर बने रहना। कैसा भी आक्रमण हो, कैसा भी संयोग वियोग हो, फिर भी कोई सत् अधूरा नहीं रहता। पूर्ण सत् बराबर रहा करता है। जो सत् है वह कभी भी नाश को प्राप्त नहीं होता। और यह ज्ञान स्वयं सत् है। इस ज्ञान को धर्म की दृष्टि से देखो तो सत् है, धर्म की दृष्टि से देखो तो सत् है, अभिन्न स्वरूप है। देखने की दो दृष्टियाँ है और धर्मी कुछ अलग से तो है नहीं, जो है सो है, वह न धर्मी है, न धर्म है। एक धर्म को मुख्य किया तो वह धर्मी हो गया और अन्य धर्म जो गौण किया गया वह धर्म हो गया। धर्म और धर्मी की व्यवस्था मुख्यतया और गौण रूप से है। इस आत्मा में कौन से गुण की मुख्यता की जाये कि इस धर्मी आत्मा का शीघ्र परिचय हो जाता है? समस्त गुणों में गुणराज ज्ञान गुण है जिस ज्ञान की प्रधानता से इस आत्मा का सुगमतया परिचय होता है। यह ज्ञान स्वयमेव सत् है इस कारण मुझे दूसरे से रक्षा की क्या आशा करना? दूसरे के द्वारा क्या रक्षित होना? मैं तो स्वयं स्वरक्षित हूँ। इसका कभी अत्राण ही नहीं है, अरक्षा ही नहीं है, फिर ज्ञानी जीव को भय कहां से हो? संसार में ऐसा वह ही बड़ा पुरुष है जिसका इस स्वतःसिद्ध आत्मतत्त्व पर अधिकार हो गया है। क्षण-क्षण बाद जब चाहे तब ही इस आत्मदेव की सिद्धि कर सकता है। ऐसा ज्ञानी में बल प्रकट हो गया है। वह बल है सत् के यथार्थ सत्त्व के ज्ञान का बल।

कुछ भी वक्तव्य से वस्तुस्वरूप के परिवर्तन का अभाव—दुनिया कभी भी कुछ भी कहे, किसी भी द्रव्य पर किसी अन्य द्रव्य का कुछ अधिकार नहीं होता। अधिकार की बात कहना उपचार से है। जिसको निमित्त करके यह जीव कुछ विकल्प बनाता है और लोकव्यवस्था में जिसके पास अधिक समय तक वस्तु रहे उसे ही लोकव्यवस्था में अधिकारी कहा गया है। परमार्थ से इस जीव का किसी भी अन्य वस्तु पर रंच भी अधिकार नहीं है। ज्ञानी जानता है अपने अन्तर की श्रद्धा में सत् का यथार्थस्वरूप। यह श्रद्धाबल इस ज्ञानी के संवर और निर्जरा का कारण होता है। गृहस्थ ज्ञानी में ऐसी कौन-सी खूबी है कि जिस खूबी के कारण सदा प्रसन्न, निर्मल, अनाकुल अन्तर में रहा करता है, जबकि परिस्थितियाँ इसके विपरीत हैं। जिसके लिए लोग यह देखते हैं कि यह इतना घर में फंसा है, इतनी व्यवस्था में पड़ा है, लोगों को यह दिखता है पर ज्ञानी पुरुष की श्रद्धा में एक ऐसा अपूर्व बल है जिस बल के प्रसाद से परवस्तुओं में वह आत्मीय मधुर आनन्द का अव्यक्तरूप में स्वाद लिया करता है।

दृष्टि के अनुसार स्वाद—एक ऐसा कथानक है कि राजा और मंत्री राजसभा में बैठे हुए थे। मंत्री को नीचा दिखाने के लिए राजा ने बोलना शुरू किया कि मित्र मंत्री ! आज रात को हमें एक स्वप्न आया है कि हम आप दोनों आदमी घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्ढे मिले, एक गड्ढे में गोबर भरा था और एक में शक्कर भरी थी। सो गोबर के गड्ढे में तो आप गिर पड़े और मैं शक्कर के गड्ढे में गिर पड़ा। तो मंत्री बोला कि महाराज ऐसा ही हमें स्वप्न आया, बिल्कुल ठीक यही स्वप्न आया, पर इससे आगे थोड़ा और देखा कि आप हमें चाट रहे थे और मैं आपको चाट रहा था। अब बतलाओ कि राजा को क्या चटाया? गोबर। और स्वयं ने क्या चाटा? शक्कर। तो ये चातुर्य की बातें थीं। राजा शर्मिन्दा हो गया कि इसने हमें गोबर चटाया। तो देखो गोबर में पड़ा हुआ भी व्यक्ति शक्कर का स्वाद ले सकता है। ज्ञानी गृहस्थ की बाह्य परिस्थितियाँ बहुत-बहुत कार्यों के व्यग्ररूप दिखा करती हैं पर धन्य है वह ज्ञानी जिसके अन्तर में वस्तु की चतुष्टय सीमा का भान हो जाता है और जहाँ यह विश्वास हो जाता है कि मेरा उद्धार किसी अन्य वस्तु के द्वारा हो ही नहीं सकता वह ज्ञानी अन्तर में ज्ञान का स्वाद ले लेता है।

अज्ञानी और ज्ञानी की भावस्थिति—यह बहुत बड़ा भयानक अंधेरा है जो धन वैभव, नाम, प्रतिष्ठा, आबरू आदि की कोई तरंग उठा करे। करता क्या यह जीव? कर्मविपाकों के वशीभूत है। वशीभूत भी क्या है, उदय है पर क्षयोपशम भी साथ में है। उस क्षयोपशम के रहते हुए अपनी बुद्धि से चाहे अपने को कुपथ की ओर ले जाकर बिगाड़ कर ले, चाहे सत्पथ की ओर उपयोग कर ले, ऐसा प्रमादी है, ऐसा संस्कारों का शिकारी है कि वह निज ज्ञायकस्वभाव के मननरूप आश्रयरूप सत्पथ का परिग्रहण नहीं कर पाता है। ज्ञानी जीव की दृष्टि में वस्तु का यथार्थस्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ स्वयं अस्तित्व लिए है। मेरा किसी अन्य पदार्थ में प्रवेश नहीं है।

हम आपके इस पिंडोले में भी वस्तुओं की स्वतन्त्रता—यहां ही देखो हम आप जितने भी लोग बैठे हैं ये मुख्यतया तीन चीजों के पिंडोला हैं। एक आत्मा, दूसरा कार्माणवर्गणा और तीसरी शरीरवर्गणा। इन तीनों का पिण्डीभूत है यह पुतला। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना जुदा-जुदा सत् रखते हैं। ऐसा पिण्डीभूत होने की दशा में भी मैं पुद्गल का कुछ नहीं कर सकता; कर्म का, शरीर का कुछ नहीं कर सकता। जो होता है इन पदार्थों में वह उनमें स्वयमेव निमित्त पाकर होता है। स्वयमेव का अर्थ यह है कि केवल उनके स्व की परिणति होती है। पर तो निमित्त हो सकता है, किन्तु परिणति केवल एक की ही होती है। प्रत्येक पदार्थ केवल अकेले परिणमता है। किसी दूसरे पदार्थ की परिणति को साथ लेकर नहीं परिणमता है। तब प्रत्येक पदार्थ केवल ही परिणमता है और प्रतिक्षण परिणमनशील है। अपनी जाति सीमा को छोड़कर भी परिणम नहीं जाता। तब ऐसा ही मैं हूँ, फिर मेरी अरक्षा कहाँ है? ऐसा ज्ञानी जीव अपना विश्वास बनाए है इस कारण ज्ञानी के अरक्षा का भय नहीं है।

ज्ञानी का विलास—यह ज्ञानी सम्यग्ज्ञान के कारण निःशंक होता हुआ अपने सहजज्ञान का, स्वाभाविक ज्ञान का ही निरन्तर अनुभव करता है। अज्ञानी ज्ञान के स्वाद को कभी भी नहीं लेता, क्योंकि उसकी

बहिर्मुखी दृष्टि है और ज्ञानी पुरुष श्रद्धा में अन्तर में कभी भी पर का अनुभव करता हो, स्वाद लेता हो, कुछ बनाता है, ऐसा कभी ध्यान नहीं होता विश्वास नहीं होता। वह जानता हुआ भी नहीं जानता, करता हुआ भी नहीं करता, बोलता हुआ भी नहीं बोलता क्योंकि ज्ञानी की धुनि केवल अपने आपके सहज स्वरूप की दृष्टि के लिए लगी रहती है। यों ज्ञानी पुरुष अत्राण का भय नहीं करता। अत्राण मायने रक्षा न होना इसका उसे भय नहीं है। वह अपने आपको सदा सुरक्षित, सुरक्षित मानता है। कैसा सुरक्षित है यह कि अनादिकाल से अनेक परभाव और परद्रव्यों के बीच रहता हुआ भी रहता चला आया हुआ भी यह अब भी सुरक्षित है। इसका सत् नहीं बिगड़ा, उतना का ही उतना वैसा का ही वैसा अपना सत्त्व स्वरूप लिए है। ऐसा देखने वाला ज्ञानी पुरुष सदा निःशंक रहता है, निरंतर स्वयं ही अपने ज्ञान का अनुभव करता है।

सहज भाव—सहज ज्ञान का मतलब जानन परिणति से नहीं है किन्तु अनन्त अहेतुक सदा प्रकाशमान जो असाधारण स्वरूप है ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वभाव में ज्ञानस्वभाव का प्रयोजन है सहज ज्ञान का। सहज का अर्थ होता है—सह जायेते इति सहजं। जो एक साथ उत्पन्न हो उसे सहज कहते हैं। जब से पदार्थ है, जब से जो हो और जब तक पदार्थ है तब वही रहे ऐसा जो कुछ परिणाम है उसे कहते हैं सहज।

सतत ज्ञानवेदी के अत्राणभय का अभाव—यह ज्ञानी पुरुष अत्राण का भी भय नहीं करता है। यह तो सतत निरंतर अपने ज्ञान का अनुभव करता है। सम्यक्त्व के होने पर स्वरूपाचरण चारित्र होता है। जिसका कार्य है कि अपने स्वरूप में अपना आचरण बनाए रहना। यह आचरण कहीं दृष्टिरूप है, कहीं आश्रयरूप है, कहीं आलम्बनरूप है, कहीं अनुभवनरूप है और कहीं परिणाम रूप है। स्वरूपाचरण सम्यक्त्व होते ही यह प्रकट होगा और यह अनन्तकाल तक रहेगा। सिद्ध जनों पर भी स्वरूपाचरण रहता है। देशव्रत, सकलव्रत – ये तो अध्रुव हैं, सहेतुक हैं, स्वभाव भाव नहीं हैं, किन्तु आत्मा का यह अकलंक सहजस्वरूप स्वतःसिद्ध है, अनादि अनन्त है। जब से वस्तु है तब ही से इसके साथ तन्मयता भी है। ऐसे सहज ज्ञान से यह ज्ञानी जीव निःशंक होता हुआ अपने आपका अनुभव करता है। यों ज्ञानी के अरक्षा का भय नहीं होता। इस प्रकरण में चतुर्थ भय का अभाव बताया है। प्रकरण चल रहा है कि ज्ञानी पुरुष में शंका नहीं रहती है, निःशंक रहता है, क्योंकि अंत तक उसके यह बल बना हुआ है कि पर का और क्या होगा, वियोग हो जायेगा, छिद जायेगा भिद जायेगा। विनाश हो जायेगा क्या? अलग हो जायेगा तिस पर भी मुझ सत् का कभी विनाश नहीं होता है। ऐसा उस ज्ञानी के दृढतम श्रद्धान है इसलिए वह निःशंक रहता है और निःशंक होता हुआ सतत अपने सहज ज्ञान का ही अनुभव करता है।

अगुप्तिभय

ज्ञानी के अगुप्तिभय का अभाव—निःशंकित अंग के प्रकरण में ज्ञानी जीव अगुप्ति भय से पृथक् अपने आपको देख रहा है, वह क्या जानता है कि वस्तु का निजस्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति है। गुप्ति उसे कहते हैं अथवा दृढ़ किले जैसी निर्मिति को गुप्ति कहते हैं जिसमें अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। जैसे किला

दृढ़ बनाया जाता है किसलिए कि इस किले के अन्दर कोई प्रवेश नहीं कर सकता । ज्ञानी पुरुष का किला ज्ञानी पुरुष का स्वरूप है । यह किला है तो सबके पास । इसमें किसी भी अन्य पदार्थ का प्रवेश नहीं हो सकता, पर इसका पता अज्ञानी को नहीं है ज्ञानी को लगा है । जिसे अपने स्वरूप का पता है उसके उपयोग में अन्य कोई तत्त्व प्रवेश नहीं कर पाता है क्योंकि इसके प्रवेश का द्वार भावास्त्रव है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है ।

अज्ञानी की अगुप्ति—दृढ़ किला होकर भी विभाव एक ऐसा विलक्षण घर बसा तत्त्व है कि यह सारा किला भी बालू रेत की तरह टूट जाता है, उपयोगद्वारा से वैसे वस्तुस्वरूप टूटता नहीं है । स्वरूपकिला इतना मजबूत है कि वह किला कभी टूट ही नहीं सकता । पर इस आत्मा में जो अज्ञान का उपयोग है, सो अपने उपयोग द्वारा अपने इस स्वरूप किले को तोड़ देता है । पर ज्ञानी जीव अपने उपयोग को अपने स्ववश में रखता है और वह तोड़ नहीं पाता है । वस्तु का निजी स्वरूप ही वस्तु की परमगुप्ति है । यह ज्ञान ही इस जीव का स्वरूप है । ज्ञानी जीव को कुछ भी अगुप्ति नहीं है इसलिए ज्ञानी को अगुप्ति का भय नहीं है । ऐसा भय होता है लोगों को कि मेरे घर की भीत पक्की नहीं है अथवा यह कम ऊंची है या किवाड़ मजबूत नहीं हैं, कोई भी दुश्मन, डाकू कहीं से भी प्रवेश कर सकता है ऐसा उसे अगुप्ति का भय रहता है ।

ज्ञानी की गुप्ति—ज्ञानी जीव निहारता है कि मैं तो अपने स्वरूप में हूँ । इस स्वरूप में कोई भी परपदार्थ रंच भी प्रवेश नहीं कर सकता है । न अन्य जीव प्रवेश करता है, न कोई पुद्गल आदिक द्रव्य प्रवेश कर सकते हैं । एक क्षेत्रावगाह भी हो जाये फिर भी स्वरूप में प्रवेश नहीं होता । जैसे दूध और पानी एक गिलास में मिल जायें, जिसको अलग करना जरा कठिन है वहाँ भी दूध के स्वरूप में दूध ही है और पानी के स्वरूप में पानी ही है । पानी में मिट्टी का तेल डाल दिया जाता है और जहाँ पानी है वहाँ वह तेल भी है किन्तु वहाँ एकदम स्पष्ट हो जाता है कि तेल पानी के ऊपर अथवा अगल-बगल पड़ा इकट्ठा सा नजर आता है । लो यह तेल है यह पानी है । तेल के स्वरूप में तेल है और पानी के स्वरूप में पानी है । मोटे अथवा सूक्ष्म अनेक दृष्टान्तों से इस बात को जान सकते हैं कि एक क्षेत्र में भी रहकर एक पदार्थ अपने स्वरूप को किसी दूसरे पदार्थ को नहीं दे सकता है । तब पदार्थ का स्वरूप गुप्त हुआ ना, उनके स्वरूप को कोई भेद नहीं सकता । मेरा भी ऐसा ही सुरक्षित स्वरूप है कि उसमें परपदार्थ का प्रवेश नहीं है । अरक्षा का क्या भय है, आक्रमण का क्या भय है? इस कारण ज्ञानी निःशंक होकर निरंतर स्वयमेव अपने सहज ज्ञानस्वभाव का अनुभव करता है । यों यह मैं हूँ, यह पूरा हूँ, इसमें यह ही है, इसमें अन्य कुछ नहीं है ।

अज्ञानी का विकल्प व अनर्थ—यह जीव विकृत अवस्था में अज्ञान और मिथ्यात्व अंधकार से आच्छादित था, उस समय भी यह अपने आपका ही स्वामी था, कर्ता था, भोक्ता था । तब भी इसमें दूसरे के स्वरूप का प्रवेश न था भोजन करती हुई हालत में भी । हालांकि लोभी पुरुष आसक्त होकर मौज लेता हुआ भोजन चबाकर स्वाद ले रहा है उस समय भी उस ज्ञानी की आत्मा में भोजन का एक अणु अथवा रस आदि कुछ तत्त्व प्रवेश नहीं कर रहा है । वस्तु के स्वरूपकिला को कोई तोड़ नहीं सकता है पर वह अज्ञानी अपने

आप में बैठा हुआ कल्पनाएँ कर रहा है कि मैं भोजन का स्वाद ले रहा हूँ । इसके बाद मीठे रस का मौज मानता है । माने भले ही पर वह उपयोगद्वार से बाहर किसी भी द्रव्य में नहीं गया । इसका पता नहीं है इसलिए अपनी प्रभुता का विपरीत उपयोग कर रहा है ।

स्वरूप की सहज दृढ़ता—जीव सब प्रभु हैं, ऐश्वर्य सम्पन्न हैं पर कोई अपने ऐश्वर्य में स्वाभाविक परिणमन कर रहा है जैसे कि परमात्मा । और कोई अपने उपयोग को ज्ञान की दृष्टि में परिणमन कर रहा है जैसे कि अंतरात्मा । और कोई अपने उपयोग को बाह्यपदार्थजन्य सुख की कल्पना करके परिणमन कर रहा है जैसे कि बहिरात्मा । पर सभी आत्माओं ने केवल अपने आपके स्वरूप में ही तो कुछ किया, पर बाहर से कुछ प्रवेश नहीं हो सकता । जैसे मजबूत किले के अन्दर रहने वाले राजा के कुटुम्ब वाले परस्पर में तो लड़ें भिड़ें पर उस किले में दूसरा शत्रु प्रवेश नहीं हो पाता है । इसी तरह इस आत्मस्वरूप में इस मजबूत किले में स्वयं का उपयोग विकल्प रागादिक भाव विकृत होकर बिगड़ते हैं तो बिगड़ें, पर इस आत्मस्वरूप में किसी भी वस्तु का प्रवेश नहीं हो सकता है ।

निजबल का ज्ञानी—ज्ञानी जीव को ऐसा पता है इस कारण वह अपने उपयोग से बाहर नहीं जाता है । जिसमें किसी का प्रवेश नहीं हो सकता ऐसे गढ़ का नाम गुप्ति है, या कुछ भी मजबूत चीज हो उसका नाम गुप्ति है । इसमें यह मनुष्य होकर ठहरता है बढ़िया मकान बना हो, मजबूत किवाड़े हों तो किवाड़ों के बंद करके कैसे आराम से लोग सोया करते हैं और कभी खुली दालान वगैरह में रहने को मिले तो कितनी आशंका रहती है? निःशंक होकर सो नहीं सकते हैं, अधजगे सोते हैं क्योंकि अगुप्ति का भय है, गुप्ति नहीं है, सुरक्षित ओट नहीं है । पर ज्ञानी जीव के अन्तर श्रद्धा की बात कही जा रही है । उसको यह विदित है कि मेरा अंतःस्वरूप परम सुदृढ़ है । इस स्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं हो सकता, सो अपने स्वरूप में, प्रवेश में रहता हुआ यह प्राणी निर्भय बना रहता है ।

आत्मा में बल विकसित होने का स्वभाव—गुप्त प्रवेश न हो, खुला हुआ हो उसको अगुप्ति कहते हैं । वहाँ बैठने में अज्ञानी को भय उत्पन्न होता है । पर ज्ञानी ऐसा सोचता है कि जो वस्तु का निज स्वरूप है उसमें परमार्थ से दूसरी वस्तु का प्रवेश नहीं है । यही परमगुप्ति है, पुरुष का स्वरूप ज्ञान है । उस असाधारण ज्ञानस्वरूप में किसी अन्य का प्रवेश नहीं होता है । ऐसे सुदृढ़ श्रद्धान वाले पुरुष में भय कहाँ उत्पन्न होता है? जब जमींदारी खतम होने का कानून लागू हो रहा था उस समय लोग कितना भयशील थे कि इतनी बड़ी जायदाद, इतनी बड़ी आय का साधन यह सब समाप्त हो जायेगा, गुजारा कैसे होगा? इन्हीं प्रसंगों में जब बहुत-बहुत दुःखी होने लगे तो यह बल भी प्रकट हो गया कि जैसे इतने देश के बहुत लोग रहते हैं उस तरह से रह लेंगे, गुजारा हो जायेगा । उससे कम तो नहीं हो जायेगा । मुझे तो कोई न छुड़ा ले जायेगा । समय गुजरा, भय सब समाप्त हो गये ।

निर्भयता का मूल उपाय आकिञ्चन्य भावना—जितना आकिञ्चन्य की ओर मनुष्य बढ़ता है उतना ही उसे संतोष होता है । धनसंचय करके न किसी ने शांति पाया और न कोई शांत बन सकेगा । और धन का

त्याग करके अथवा अच्छे कार्य में सदुपयोग करके न कोई पछता सकेगा । भाग्य में जितना होता है उतना ही रहता है । चाहे उसका जितना दान करें चाहे भोग करें अथवा दोनों बातें न करें तो नाश हो जायेगा—इन बाह्य समागमों की स्थितियों में इस आत्मा का कुछ कल्याण नहीं है । प्रत्येक स्थिति में अपने को आकिञ्चन्य अनुभव करो । धन हो अथवा न हो, धन के लिए बुरा बोलना, अच्छा बोलना उससे तो क्लेश ही बढ़ेंगे । गरीबी से भी अधिक क्लेश इसमें होता है । अपने माने हुए परिवार के वचन बाड़ भिद जाया करते हैं, उस समय में भी क्या औषधि है कि अपने क्लेश मिटें ? अपने आपको अकिञ्चन अनुभव करो । यही एक परम औषधि है । मैं आकिञ्चन्य हूँ अर्थात् मेरे स्वरूप के अतिरिक्त लोक में अन्य कुछ भी पदार्थ मेरा नहीं है । इस आकिञ्चन्य के अनुभव के प्रसाद से वे सारे क्लेश खतम हो जाया करते हैं ।

वचनसंयम का प्रताप एवं कुवचन की अनर्थता—विवेकी पुरुष तो अपने वचनों पर बड़ा कंट्रोल रखते हैं । किसी से वे बोलना ही नहीं चाहते । जब कोई अधिक गले पड़ जाये, आजीविका नष्ट होने को देखे अथवा अन्य कोई अपना बड़ा अहित होते देखे तो वह बोलता है अन्यथा वह कुछ बोलना पसंद ही नहीं करता है । बोल देने के बाद ये वचन फिर वापिस नहीं आते हैं । यदि कुछ खोटा बोल दिया तो बोल चुकने के बाद वे खोटे वचन वापिस नहीं आते । जैसे धनुष में से निकला हुआ बाण, छूटा हुआ बाण हो उससे कितनी ही मिन्नत की जाये, कितनी ही प्रार्थना की जाये कि ऐ बाण तू भूल से छूट गया है, अरे वापिस आ जा, तो वह वापिस नहीं आता । इसी प्रकार इस मुखरूपी धनुष से छूटा हुआ वचनबाण हो उससे कितनी ही मिन्नत करो, कितनी ही प्रार्थना करो तो भी वह वचन वापिस नहीं आ सकता । जिसमें निशाना करके मारा गया है उसे लगे बिना वापिस नहीं आ सकता है । यह मुख धनुष ही तो है । जब बोला जाता है तो मुख का आकार धनुष की तरह हो जाता है दोनों ओंठ ऐसा फैल जाते हैं जैसे खींचा हुआ धनुष । उस खिंचे हुए धनुष से बाण निकलता है । जब खोटे वचन बोले जाते हैं तो यह धनुष और तेज खुलता है । जब समतापूर्ण बात बोली जाती है तब इस धनुष का मुख थोड़ा ही खुलता है, पर जहाँ गुस्सा के वचन खोटे वचन बोले जाते हैं वहाँ पर यह बहुत ज्यादा खुल जाया करता है । यह वचनबाण निकलने पर कितना ही कहो कि भाई मेरी बात वापिस कर दो तो वापिस नहीं होती । यह सब अपने स्वरूप के वश में न रख सकने का परिणाम है ।

गुप्त स्वरूप के गुप्त रहने में गुप्ति—मन, वचन, काय को वश में रखना यही गुप्ति का सदुपयोग है । गुप्ति का अर्थ अप्रकट भी है और सुरक्षित भी है । जो रक्षा करे उसका नाम गुप्ति है । न तो छुपा हुआ इसका अर्थ है और न प्रकट हुआ इसका अर्थ है । जो रक्षा करे उसका नाम गुप्ति है । गुपू रक्षणे संस्कृत में धातु है, उससे गुप्ति शब्द बनता है । चाहे वह किला हो जो दुनिया को स्पष्ट दिखता है उसका भी नाम गुप्ति है और कोई अत्यन्त छिपा हुआ हो वहाँ भी गुप्ति शब्द कहा जायेगा, क्योंकि कोई उस किले को नहीं भेद सकता है, वह मजबूत है और न कोई छिपे हुए पदार्थ को भेद सकता है क्योंकि वह दूसरे की नजर ही में नहीं है, सुरक्षित होने का नाम गुप्ति है । यह असाधारण चैतन्यस्वरूप पूर्ण सुरक्षित है ।

संश्लिष्ट होने पर भी असंश्लेष—अनादिकाल से अब तक यह आत्मतत्त्व इस विभाव और पर के निमित्त-नैमित्तिक बनने में ऐसा रह आया है कि एक तान होकर उनमें विस्तृत रहा। यह शरीर है और इस शरीर में जीव भरा हुआ है। तो कैसा घन भरा हुआ है कि इस शरीर के रग-रग में जीव मौजूद है। इस शरीर के अन्दर जहाँ-जहाँ भी जो कुछ पोल है, नाक के छिद्रों में, कान के छिद्रों में, पोल में जीव प्रदेश नहीं है, क्योंकि वहाँ शरीर ही नहीं है, जहाँ शरीर की वर्गणाएँ हैं वहाँ सर्वत्र आत्मप्रदेश है, ऐसा सघन बँधा हुआ यह जीव है। जब शरीर हिले चले तो आत्मा का भी हिलना चलना होता है। जब यह जीव जाता है तो इस शरीर को भी जाना होता है। ऐसा इसका परस्पर निकट सम्बन्ध है तिस पर भी आत्मा का स्वरूप मजबूत और गुप्त है। न शरीर के स्वरूप में जीव का प्रवेश हो पाता है और न जीव के स्वरूप में शरीर का प्रवेश हो पाता है। ये दोनों अपनी-अपनी जगह अपने स्वरूप में गुप्त हैं, सुरक्षित हैं, स्वतः सिद्ध हैं। ऐसा अवगम इस ज्ञानी जीव को वस्तुस्वरूप के दर्शन में होता है। अतः उसे किसी ओर से भी भय नहीं रहता है।

आत्मसावधानी में संकट की समाप्ति—भैया ! जब कभी भी कोई उपद्रव, संकट, झंझट, चिंता, राग-द्वेष कुछ भी अनर्थ होने को हो उसी समय यह सम्यग्दृष्टि पुरुष सावधान रहता है। जाता है तो जाओ। तो यह मैं जानता हूँ, परिपूर्ण हूँ, इतना मात्र हूँ, हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं होता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष को दृढ़ बोध है अपने आपके स्वरूप के विषय में। यों तो कितनी ही सीमा में पुद्गल में भी बातें निरख सकते हैं। समुद्र के पानी में हवा का बहुत सघन स्पर्श है तब लहर चल रही है। उस लहर के साथ हवा का भी पूरे रूप से सम्बन्ध है, चिपका हुआ है, लेकिन हवा के स्वरूप में हवा ही है और पानी के स्वरूप में पानी ही है। कोई किसी को अपना स्वरूप नहीं सौंप देता है।

सर्वत्र निज निज का अभ्युदय—दो मित्र मिलकर किसी एक काम को कर रहे हों और बड़ा आह्लाद मना रहे हों, सुखी हो रहे हों वहाँ पर भी प्रत्येक मित्र का मात्र अपने आपमें ही परिणमन हो रहा है। अपने से अतिरिक्त अन्य किसी भी पर में परिणमन नहीं हो पाता है। ऐसी वस्तु की मर्यादा ही है। ऐसा स्पष्ट बोध जिस ज्ञानी जीव के रहता है उसको अगुप्ति का भय नहीं होता। वह अपने सहज ज्ञानस्वरूप को ही अपने आपमें स्थित होता हुआ अनुभव करता है। सहज ज्ञानस्वरूप की एक परिस्थिति है अनुभव में और कैसा हुआ है इसके लिए बाह्यविषयक यथार्थ साधारण ज्ञान करके जो इस आग्रह पर उतर गया है कि समस्त परपदार्थ पर ही हैं, किसी भी पर से मेरा हित नहीं है। ऐसा बोध करने पर उसे उपेक्षा करने का बल प्रकट होता है। जब मेरा हितकारक नहीं है, मेरा मोक्ष का साधक नहीं है, आनन्द की सिद्धि करा सकने वाला नहीं है तो बाह्यपदार्थों में क्या ममत्व करना? ऐसे उठे हुए अंतरंग वैराग्य परिणाम से यह जीव समस्त वस्तुओं से उपेक्षा कर देता है तो स्वयं ही अपने आप इसका जो अपना स्वरूप है ज्ञान स्वरूप, जाननमात्र, उस जाननमात्र भाव के ही जानने में लग जाता है। कोई विकल्प नहीं है। जो भी विकल्प होता है उसको भी यह कहकर कि तू परभाव है, तू दुःख देने के लिए उत्पन्न होता है, तू हट जा।

विकल्पविनाश का बुद्धिपूर्वक साधन ज्ञानार्जन—भैया ! विकल्प के हटते ही स्वयं ही ज्ञानस्वरूप

आत्मतत्त्व का अनुभव होता है। इसके लिए बहुत-सी साधनाएँ करनी पड़ती हैं। उन साधनाओं में मुख्य साधना है ज्ञानार्जन, स्वाध्याय। ज्ञानार्जन करने के तीन-चार तरीके हैं। एक तो अकेले मुख से क्रमशः **अध्याय** करना। दूसरे प्रतिदिन प्रवचन करना, शास्त्र का वाचन कर लेना। इस प्रकार १०-१२ मिनट पठन किया और तीन चार मिनट उसके सारभूत बात के विचार में लग जाये, इस प्रकार स्वाध्याय करना ज्ञानार्जन का साधन है। तीसरा साधन वीतराग भाव से आत्महित के भाव से जैन सिद्धान्त तत्त्व की चर्चा करना। चर्चा करने से बहुत-सी बातें स्पष्ट प्रकट हो जाती हैं। और चौथा उपाय यह है कि एक वर्ष में एक माह को घर छोड़कर सत्संग में रहना, १ माह को घर छोड़ने के बाद भी यद्यपि घर आना है फिर वह छोड़कर अंतरंग में रहने पर धर्म की ओर चलता है। इन तीन चार उपायों को अपने ज्ञानार्जन में लेकर अपने ज्ञानस्वरूप की मजबूती का भान कर लेगा तब अपने स्वरूप का भली प्रकार पता हो लेगा, तब समझिये कि यह जीव कृतकृत्य होने को तैयार है।

वास्तविक वैभव—यथार्थ ज्ञान का हो जाना ही सर्वोत्कृष्ट वैभव है। ये सब समागम धन, कन, कंचन, राजसुख ये सब ही मिल जाते हैं, ये सब सुलभ हैं। जितना मिला है उससे कुछ और अधिक मिल जायेगा, दुगुना हो जायेगा तो उससे आत्मा की कौन-सी सिद्धि हो जायेगी? प्रत्युत व्यवस्था की धुनि हो जाने से इस बाह्य सम्पदा से क्लेश ही मिलेगा। गृहस्थावस्था है, आजीविका चलाना है, यह तो कर्तव्य ही है करो, पर धन कमाना अपने हाथ की बात नहीं है, केवल उद्यम करना ही अपना कर्तव्य है। उसे उपेक्षा भाव से करो और अपने ज्ञानार्जन को मुख्यता दो तो अपने इस गुप्त आत्मा का भान होगा और यह बल मिलेगा कि किसी भी समय मेरे में पर से कोई आपत्ति नहीं आया करती है।

पर से मेरे बिगाड़ का अभाव—परपदार्थों का मेरे में कदाचित् भी प्रवेश नहीं हो सकता है। हम बिगड़ते हैं तो अपने आपकी परिणति से बिगड़ते हैं, सुधरते हैं तो अपने आपकी परिणति से सुधरते हैं। ऐसा इस ज्ञानी जीव के अपने दृढ़ स्वरूप का भान है, अतः उसको अगुप्ति भय नहीं होता। वह तो निःशंक होता हुआ निरंतर स्वयं ही अपने अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण सहज ज्ञानस्वरूप का ही अनुभव किया करता है। इस प्रकार इस भय के प्रकरण में अगुप्तिभय से सम्यग्दृष्टि पुरुष दूर है, इस बात का वर्णन किया।

मरणभय

ज्ञानी के मरणभय का अभाव—सम्यग्दृष्टि जीव चूँकि आत्मस्वरूप से परिचित है और आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के उपयोग के कारण परमआनन्द का स्वाद ले चुका है, अतः अब उसे विश्व में किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता है। वे भय ७ प्रकार के होते हैं, उनमें से एक लौकिक जनों को बड़ा भयंकारी भय है मरण का, किन्तु ज्ञानी जीव को मरण का भय नहीं होता।

गति व आयु की प्रकृति में अन्तर—नारकी जीवों को छोड़कर बाकी सभी अज्ञानी जीव मरण से डरते हैं। नारकी मरण को चाहते हैं पर उनका असमय में मरण हो नहीं सकता। गतियों में दो गतियां पुण्य हैं और

दो गतियाँ पाप हैं, किन्तु आयुओं में एक आयु पाप है और तीन आयु पुण्य हैं । नरक आयु तो पापप्रकृति है और तिर्यञ्च, मनुष्य, देव ये तीन आयु पुण्यप्रकृति हैं । गतियों में नरक गति और तिर्यञ्चगति ये दो गतियाँ पापप्रकृति है किन्तु मनुष्यगति और देवगति ये दो गतियाँ पुण्यप्रकृति हैं । इस विषमता का क्या तात्पर्य है कि तिर्यञ्चगति के जीव अपनी अवस्था को बुरी अवस्था मानते हैं, दुःखी भी होते रहते हैं पर मरण नहीं चाहते हैं । कैसा ही क्लेश हो तिर्यञ्चों को पर मरण नहीं चाहते हैं । तिर्यञ्चों को आयु प्रिय है इस कारण वे आयु चाहते हैं, और नारकी जीव अपनी वर्तमान अवस्था को भी नहीं चाहते और मरण चाहा करते हैं इस कारण उन्हें अपनी आयु प्रिय नहीं है । सो नरक आयु केवल पापप्रकृति है, पर वे मरण चाहते हैं यह एक स्थूल दृष्टि से है पर अन्तर से तो कोई भी जीव अपना विनाश नहीं चाहता ।

आत्मा का परमार्थ प्राण—मरण कहते हैं प्राणों के उच्छेद हो जाने को, विनाश हो जाने को । पर आत्मा का प्राण क्या है? प्राण उसे कहते हैं जो वस्तु के सत्त्व का मूल आधार हो । आत्मा के सत्त्व का मूल आधार इन्द्रिय नहीं, किन्तु ज्ञान, दर्शन, चैतन्य स्वभाव है । आत्मा में ज्ञान दर्शन चैतन्य स्वभाव न हो फिर आत्मा रह आये ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि आत्मा के सत्त्व का मूल आधार लक्षण ज्ञान दर्शन है । अतः आत्मा का परमार्थ प्राण ज्ञानस्वरूप है । सो वह ज्ञान शाश्वत है, स्वयमेव है वह कभी भी किसी भी प्रकार छिद नहीं सकता, वियुक्त नहीं हो सकता । इस कारण इस ज्ञान का मरण ही नहीं है । जब इस ज्ञान का मरण नहीं है तब ज्ञानी जीव को भय किस बात का? सबसे बड़ा विष जीव के साथ लगा है तो मोही, मलिन, मायावी, तुच्छ पुरुषों में मेरा नाम हो जाये यही विष लगा है । यह सारा जगत मायामय है । और सम्भव है कि जिस जीवलोक में हम अपना नाम जताना चाहते हैं वह जीवलोक अपने से भी निम्न दशा में हो । और प्रायः ऐसा है । तो मायामय, असार, मलिन, दुःखी, मोही प्राणियों में नाम की चाह यह सबसे बड़ा भयंकर विष है । जीव संज्ञी और समर्थ होकर भी इस ख्याति की आन में चलकर अपने प्राणों को भून डालते हैं ।

नाम किसका—ये जो नाक, आंख, कान हैं, जिनका फोटो उतारता है क्या उनका नाम चाहते हो? यह लोक की दृष्टि में बड़ा उच्च जंच जाये तो इससे क्या आत्मा का संसार कट जायेगा? मरण होने पर क्या वे नरक तिर्यच निगोद गतियाँ छूट जायेंगी? किसका नाम चाहते हो? जो तू है सो तेरा नाम नहीं है । तू बिना नाम का चेतन है । तू अपने आपको देख । तू बाहरी वस्तुओं को देखता है कि यह भीत है, यह खम्भा है । जरा अन्तरदृष्टि करके अपने आपके भीतर इस स्वरूप को निहारो, यह तो सर्व साधारण एक चित्रकाशमात्र है । इसका कुछ नाम है क्या? कोई इसको जानता हो तो नाम भी धरे, पर दुनिया के लोग इस मुझको जानते कहाँ है? फिर नाम किसका? इस मुझ आत्मा का सम्बन्ध मेरे अन्य लोक से बाहर रंच मात्र भी नहीं है । कहाँ नाम चाहते हो? किसको बताना चाहते हो? अपनी करनी अच्छी होगी तो अपने को लाभ मिलेगा । अपनी करनी बहिर्मुखता की है तो उसमें अपने प्राणों का विनाश है । बाहर कुछ मत ढूँढो । जो कुछ किया जाये वह अपनी विशुद्धि के लिए किया जाये, विषय कषायों से हटते हुए रहना यह बहुत बड़ा लाभ है ।

विषय दावाग्नि—भैया ! पंचेन्द्रिय का विषय यह है दावाग्नि । इन विषयों की चाह यही है भयंकर दहन । इसमें जगत के जीव जले जा रहे हैं । इसको बुझाने के लिए समर्थ केवल ज्ञानजल है । उस ज्ञान के द्वारा इन विषयों से निवृत्ति पायें तो आत्मा को हित का मार्ग मिलेगा । मनुष्य को कुछ न कुछ काम चाहिए । यदि निर्विकल्प समाधि में ही रह सको तो रहो, पर एक रूखी धर्म की धुनि बनाकर कि अपना ही काम करो, अपना ही हित करो, ऐसी रूखी धुनि करके और साधर्मि जनों की सेवा से दूर रहकर कर्तव्यव्यवहार से कर्तव्यमार्ग से पृथक् रहकर सेवा के कार्य से निवृत्त रहकर तो न अपना ही कार्य बन पाता है और न लौकिक प्रसन्नता भी साथ रह पाती है । सूना-सूना सा रहता है । अपने मन का मिट्टू हुआ बना रहता है । हमारा आपका मुख्य काम क्या है स्वाध्याय करना ज्ञान ध्यान समाधि में रहना, सो इतना तो हो नहीं पा रहा है और इसके एवज में पर्याय बुद्धि रहती है । कितनी ही दुनिया की खोटी बातें हृदय में आती रहती हैं, अपना विषय वासना की बातें मन में आती हैं; अपना कर्तव्य है कि ऐसी वृत्ति में लगें, ऐसी परसेवा में लगें जिससे ये भयंकर विषयकषाय के भाव हमसे दूर हो सकें ।

परसेवा का उद्देश्य—परसेवा का उद्देश्य विषय-कषायों से निवृत्ति पाना है । और देखते ही हो कि कभी किन्हीं रोगी, दुःखी, कोढ़ी पुरुषों के बीच से निकलो तो वहाँ परिणाम कैसा बदल जाता है? वहाँ परिणाम भाव नहीं सता पाते हैं । परसेवा प्रसंग विषयकषायों की निवृत्ति का उद्देश्य लिए हुए है । इस जीव का इस लोक में कोई साथी नहीं है । जिसको अपना घर मान रखा है और जिन घर वालों के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर दिया जाता है, अन्य जीवों के समान वे भी अत्यन्त भिन्न हैं । उनसे मोह बसाने से क्या प्राप्त होता है? अंत में हाथ रहता भी कुछ नहीं है । यह हंस अकेला का अकेला ही रहता है । इसका कोई सहाय नहीं होता है । जिसने इस जीवन में निर्मल शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का लक्ष्य करके अपने आपका पोषण किया है वही पुरुष कल्याण का पात्र हो सकता है ।

परमार्थ मरण व काल्पनिक मरण—भैया ! संसार के सभी जीव मरण से डरते हैं पर मरण तो वास्तविक निरन्तर जीव का प्रतिसमय होता जा रहा है । विभाव परिणामों को करके जो शुद्ध ज्ञानस्वभाव का विकास बन रहा है ज्ञान सुधारस का स्वाद नहीं लिया जा सकता है वह मरण ही तो है । जैसे आजकल पतली बरसाती चादर आती है । कागज से भी अधिक पतली होती है उसको मुँह के आगे लगाकर पानी में डूबे हैं, उसके ऊपर पानी लबालब भरा है पर पानी अत्यन्त दूर है । उस पानी का एक बूँद भी मुँह में नहीं जा सकता है । पानी और मुँह के बीच में कागज से भी पतला एक प्लास्टिक का पर्दा है, सो पानी का स्वाद नहीं लिया जा सकता है । इसी तरह अत्यन्त निकट और निकट ही क्या, स्वयं ज्ञानघन आनन्दमय यह आत्मतत्त्व है पर इस आत्मतत्त्व और सदुपयोग के बीच विषय-कषायों का अमूर्तिक अत्यन्त पतला जिसमें लम्बाई चौड़ाई मोटाई कुछ नहीं है, न कोई पिण्डरूप है, हवा से भी पतला अमूर्तिक विषय-कषायों का पर्दा पड़ा हुआ है जिसके कारण इस परमात्म रस का स्वाद नहीं लिया जा सकता है । यह परमार्थ प्राणाघातरूप प्रतिसमय मरण हो रहा है इस मरण की ओर तो दृष्टि नहीं है किन्तु इस जगत के जीव इस शरीर के मरण

से डरा करते हैं। मरण से डरें तो वास्तविक मरण से डरें। यह तो कोई मरता नहीं है यह तो पुरानी कुटी से निकलकर नई कुटी में पहुंचने जैसी बात है। यदि अपना आत्मतत्त्व अपनी दृष्टि में है तो भय किस बात का है? और अपना आत्मतत्त्व अपनी दृष्टि में नहीं है तो निरन्तर मरण हो रहा है। वह जीना भी मरण से बुरा है, जिस जीने में जीव न दिखता हो, परमात्मस्वरूप का दर्शन न हो सकता हो, मोह अंधकार में भी बुरा है।

अज्ञानी की त्रुटि के परिचय का अधिकारी—भैया ! इस मोही जीव पर हंसी करने वाला ज्ञानी ही हो सकता है। अज्ञानी तो उसका समर्थन करता है। तुमने बहुत अच्छी कला खेली है, तुमने बड़ी सुन्दर व्यवस्था बनायी है—इस तरह से अज्ञानी तो उसका समर्थन किया करता है। अज्ञानी की गलती पर ज्ञानी ही एक मधुर हास्य कर सकता है। अहो कितना व्यर्थ का ऊधम ये जीव कर रहे हैं? कितना बाहरी पदार्थों की पकड़ में ये जीव लगे हुए हैं और अपने आपके प्रभु का घात किए जा रहे हैं। ज्ञानी पुरुष के तद्भव मरण का भय नहीं है। यह अपने आपकी दृष्टि में यथार्थ रूप से बना रहे तो यह तो सदा हराभरा है। इसका मरण कहाँ है? ज्ञानी जीव मरण भय से दूर रहता है, निःशंक रहता है। जिसने अपने आत्मा से रिश्ता लगाया उसको मरण नहीं दिखता, जिसने निज सहजस्वरूप ज्ञानमय अपने आपको ही माना उसको यहाँ कोई भय नहीं है।

मरणभय के प्रधान कारण—भैया ! मरण के समय जीव को दो प्रकार के भय होते हैं—एक तो बड़ी मेहनत से धन जोड़ा, कुटुम्ब परिवार मिले वे सब छोड़ने पड़ रहे हैं, एक तो इस आशय की चोट लगी है। दूसरे शरीर जो उसे प्रिय लग रहा है, उस शरीर से प्रेम है, उस शरीर से प्राण जंत्री में से चाँदी के तार की तरह खिंचकर जाना होता है तो शरीर के मोह से वह अपने में दुःख मानता है। जिस ज्ञानी पुरुष के अपने शुद्ध स्वरूप की दृष्टि है अर्थात् अपने आप यह मैं आत्मा जो सत् हूँ, जो मुझमें सर्वस्व है, जिस स्वरूप से मेरा निर्माण है, जिस स्वरूपमय मैं स्वरसतः हूँ ऐसे उस प्रतिभासमात्र स्वरूप का अनुभव किया है उसे किसी भी परपदार्थ से मोह नहीं रहता है। सभी पर पृथक् हैं। जहाँ पर से मोह नहीं रहता वहाँ मरण का भय भी नहीं रहता है। ज्ञानी पुरुष मरण के भय से सदा दूर रहता है। वह तो निःशंक होता हुआ निरंतर स्वयं अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करता है।

मरण के भेद—मरण दो प्रकार के होते हैं—एक तद्भव मरण और एक आवीचि मरण। दोनों ही व्यवहारनय से हैं। तद्भव मरण इस आयु का समाप्त हो जाना है अर्थात् इस भव से वियुक्त हो जाना यह होता है तद्भव मरण। और आवीचि मरण क्या है कि प्रत्येक समय में आयु के निषेक खिरते हैं और उनके खिरने से यह बात हो जाती है कि अब आत्मा तो इस समय को भी मरण गया है, अर्थात् जीवन का यह क्षण भी चला गया। आयु कम हो जाना, जीवन का वह क्षण चला जाना यही है आवीचि मरण। ये दोनों मरण व्यवहारनय से हैं। परमार्थतः इसका मरण जो हो रहा है वह यही है कि ज्ञान का पूर्णविकास नहीं है, शुद्ध ज्ञानमात्र रह नहीं पाता है। यही इस प्रभु का निरन्तर मरण है। किन्तु विशुद्ध परमार्थ दृष्टि से निरखें तो

यह अपने अन्तर के मरणरहित अनादि अनन्त सदा नित्य प्रकाशमान बना हुआ है ।

स्वयं की स्वयं से अत्यन्त दूरी का कारण—भैया ! जो अपने प्रभु को नहीं देख पाता है उसके लिए यह अपना प्रभु उतना दूर है जितना कि मुँह के आगे बरसाती झीनी चादर । चादर के आगे पानी भरा हुआ है पर स्वाद नहीं लिया जा सकता । ऐसा ही उसके लिए यह परमात्मा अत्यन्त दूर है । जिसकी ओर पीठ कर ली है उसकी ओर दृष्टि करना है और जिसकी ओर दृष्टि कर ली है उससे मुँह फेरना है । ऐसा उपयोग हो तो आत्मदृष्टि से आत्मा का ग्रहण कर सकते हैं । अज्ञानी जीव के तो निज परमात्मतत्त्व से पीठ फिरी हुई है । यह जीवलोक जहाँ दृष्टि लगाये हैं वहाँ से पीठ फेर ले और जहाँ पीठ फेरे हुए है वहाँ पर दृष्टि लगा ले तो फिर उसके मुक्ति का उपाय बनने में विलम्ब नहीं है । ज्ञानी पुरुष कुछ खेद करता है । तो वह अपने ज्ञान प्राण के मरण पर खेद करता है । वह शरीर के मरण पर खेद नहीं करता है । वह ज्ञानी पुरुष दुनिया में कोई अपनी कीर्ति नहीं चाहता है । वह ज्ञानीपुरुष लोक में झूठा नाम फैलाने की धुन करके अपने को बरबाद नहीं करता है । वह इस शुद्धज्ञायकस्वरूप का ही अनुभव करके तृप्त रहना चाहता है । उसके लिए मरण कुछ नहीं है । इस प्रकार ज्ञानी पुरुष मरण के भय से निवृत्त होकर निःशंक होकर निज ज्ञान का ही अनुभव करता है ।

अपवित्रता और पवित्रता—सबसे बड़ा संकट है बहिर्मुखता, सबसे बड़ी मलिनता है बहिर्मुखता । यह सब व्यवहार से है । आत्मा अपवित्र बनता है तो बहिर्मुखदृष्टि से । उस अपवित्रता से कुछ नुकसान नहीं है यदि अनाकुलता न हो, पर बहिर्मुखता से ही इसके आकुलता आती है । सबसे बड़ी अपवित्रता है जीव की बहिर्मुखता । जो अन्तर्मुख है, अपने भीतर के वैभव को पहिचानता है वह पवित्र है, पवित्रता है । यह अमूर्त ज्ञानमात्र है, आकाशवत् निर्लेप है । यह ज्ञान प्रकाश इस ज्ञानी के ज्ञान में आ जाये तो उससे बढ़कर पवित्रता इस लोक में हो नहीं सकती है । यही सच्चा जीवन है, यही सच्ची आत्मवर्तना है इसके प्यासे होते हैं ज्ञानी पुरुष । ज्ञानीपुरुष परवस्तु के प्यासे नहीं होते हैं । बहिर्मुखता एक महासंकट है क्योंकि वह कोरा भ्रम है । जहाँ मिलना-जुलना कुछ नहीं केवल भ्रमभरी कल्पनाएं बढ़ रही हैं, उनके विषय होते हैं परपदार्थ ।

निर्भ्रान्ति में अनाकुलता का दृष्टान्त—जैसे कोई पुरुष कुछ भ्रम करके दुःखी हो, रस्सी को साँप जान करके भ्रम करके घबड़ायेगा, पर जिसे मालूम है कि यह कोरी रस्सी है तो वह उस भ्रमी पुरुष पर बड़ी समीक्षा प्रकट करता है । अहो कुछ भी तो बात नहीं है, यह दुःखी हो रहा है । उसे समझाता है कि क्यों दुःखी होते हो, वहाँ तो कुछ भी नहीं है, कोरी रस्सी है । तब उसकी समझ में आता है, ऐसा लगता है कि अहो इतना समय व्यर्थ ही कल्पना में बिताया है । इस घर में तो कुछ डर की बात ही न थी । जब ज्ञान जागृत होता है, वस्तु की स्वतंत्रता विदित होती है, समस्त वस्तुओं से विविक्त यह आत्मतत्त्व ज्ञान में आता है तब समझ में बात आती है कि अहो व्यर्थ ही इस भ्रमपूर्ण संकल्प विकल्प में पड़कर इतना काल व्यतीत कर डाला । ज्ञानी पुरुष के यथार्थ ज्ञान होने पर फिर शंका नहीं रहती है ।

जागृति में काल्पनिक भय की समाप्ति—जैसे किसी को स्वप्न आ रहा हो कि मैं जंगल में जा रहा हू,

सामने से सिंह आ रहा है, मुझ पर आक्रमण करने के लिए दौड़ रहा है, मैं चादर ओढ़े हुए अपनी जान चादर में छिपाता जा रहा हूँ, पर उसने तो तीव्र हमला कर दिया, चादर भी नुच गया, ऐसा स्वप्न जब आ रहा हो उस ही प्रसंग में घबड़ाकर ही नींद खुल जाये और आँख खोलकर देखता है कि मैं तो यहाँ अपने घर में बड़े सजे सजाए कमरे में बैठा हुआ हूँ, तो उसके भय एकदम समाप्त हो जाता है। क्या रंच भी शंका है अब उसके? नहीं है, क्योंकि जग गया है। इसी तरह जब तक मोह की नींद इस ज्ञानी को दबाए हुए है, जब तक इसके पर्यायबुद्धि लगी है, जब तक यह ज्ञानस्वरूप को नहीं जान पाता तब तक इस पर्याय की बिगाड़ को यह अपना बिगाड़ मानता है। सो पर्याय तो अध्रुव है, उसका तो बिगाड़ नियम से होता है। तो जब विनाश का, बिगाड़ का, वियोग का समय आता है तब यह ज्ञानी बड़ा दुःखी होता है। क्योंकि मोह की नींद में परवस्तु का वियोग मान करके यह एक स्वप्न बना रहा है। कभी इसे बोध हो जाये। अहो कहाँ हूँ मैं इस शरीररूप? मैं तो चैतन्यमात्र यह सत् हूँ। इस प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाये तो फिर इस ज्ञानी पुरुष को क्या मरण का भय सता सकता है? नहीं।

स्वरूपगृहीता के मरणभय का अभाव—भैया ! सबसे बड़ा वैभव है अपने स्वरूप की पकड़। किससे बात करना, किससे सम्बंध बनाना, किससे दिल मिलाकर रहना, किसमें विश्वास बनाना? यहाँ तो परमाणुमात्र भी अन्य पदार्थ हमारी शरण नहीं है। उदयवश चलना फिरना पड़ता है, रहना पड़ता है। भूख प्यास की वेदना धर्ममार्ग से विचलित कर सकने का भी कारण बन जाती है। उसकी व्यवस्था बनानी पड़ती है, हो रहा है सब कुछ, पर मेरा रिश्ता किसी से कुछ नहीं है। ये सब भी बलायें हैं, विपत्तियाँ हैं, इन सबसे विविक्त निरापद अपने स्वरूप की जो दृष्टि करता है वह ही पुरुष निःशंक रहता है। सर्व से प्रधान भय मरण का भय है। मरणभय ज्ञानी पुरुष के नहीं रहता है। इन्द्रिय आदिक प्राणों के विनाश को ही तो इस लोक में मरण कहते हैं। और ये इन्द्रिय आदिक प्राण आत्मा के परमार्थस्वरूप नहीं हैं। निश्चय से इस आत्मा का ज्ञान ही प्राण है। वह प्राण अविनाशी है, इस कारण आत्मा का मरण ही नहीं है। ऐसा स्पष्ट बोध रहने से ज्ञानी पुरुष के मरण का भी भय नहीं रहता। वह तो निःशंक होता हुआ अपने ज्ञानस्वरूप का ही स्वयं निरंतर अनुभव किया करता है। यों ज्ञानी पुरुष मरण भय से अत्यन्त दूर है।

लोकभय के अभाव का पुनः संक्षिप्त विवरण—सम्यग्दृष्टि जीव सातों भयों से रहित होता है। उन सातों भयों में से ६ प्रकार के भयों का वर्णन हो चुका है, आज सप्तम भय का वर्णन चलेगा। इस ७ वें भय का नाम है आकस्मिक भय। इसके पहिले ६ भय आ चुके थे। इह लोकभय अर्थात् मेरा इस लोक में कैसे गुजार हो, कैसे नियम कानून बनेंगे, सम्पत्ति रहेगी अथवा नहीं। इहलोक में सम्यग्दृष्टि जीव को भय नहीं होता है। इस लोक में उसे भय नहीं होता क्योंकि इस दिखते हुए लोक को वह लोक ही नहीं मानता। अपने आत्मा का जो स्वरूप है, स्वयं आत्मा है वह ही उसका लोक है। परलोक का भय यह कहलाता है कि परभव में मेरी कैसी गति होगी, किसी खोटी गति में उत्पन्न हो गया तो फिर क्या गुजरेगा? इस प्रकार का भय करना परलोक भय है। ज्ञानी जीव को परलोक का भय यों नहीं होता है क्योंकि उसके लिए

परलोक, परलोक ही नहीं है, किन्तु पर अर्थात् उत्कृष्ट निजलोक मायने ज्ञायकस्वभाव ही मेरा परलोक है । वह जानता है कि मैं अपने इस ज्ञायकस्वभावमय उत्कृष्ट लोक में रहता हूँ तो यहाँ कोई शंका ही नहीं आती है ।

मरणभय व अत्राणभय के अभाव का पुनः संक्षिप्त विवरण—तीसरा भय है वेदनाभय । शरीर में पीड़ा होगी तो कैसी होगी-ऐसी आशंका हो जाती अब क्या होगा? यह रोग बढ़ जायेगा तो कैसी वेदना होगी, ऐसा ही डरने का नाम वेदनाभय है । ज्ञानी को यह वेदना का भय नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि जो ज्ञान वेदा जाता है वही तो वेदना है । वेदना किसी दूसरे तत्त्व का नाम नहीं है । वेदना शरीर में नहीं होती है । वेदना आत्मा में होती है और वेदना ज्ञान की वेदना होती है । वेदना का अर्थ जानन है । किसी भी प्रसंग में वह जानता है, किन्तु किसी पर को न वह करता है, न भोगता है । जब वेदना मेरे स्वरूप से बाहर ही नहीं है तो भय किसका हो उसे? ज्ञानी जीव को अत्राण भय भी नहीं होता है । मेरी रक्षा कैसे हो, मेरा रक्षक कोई नहीं है ऐसा वहम सम्यग्दृष्टि पुरुष के नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि यहाँ भी मेरी रक्षा कर कौन रहा है? जब तक उदय अनुकूल चलता है चार आदमी मुझे पूछ लेते हैं, अथवा वे चार आदमी भी पूछते नहीं हैं, वे भी अपने में कषाय भाव बनाते हैं और उन कषाय भावों के अनुसार होने वाली चेष्टा हमारे सुख का निमित्तभूत होती है । ये भी कोई शरण नहीं हैं । तो अन्यत्र मेरा कौन शरण होगा? वास्तविक शरण तो मेरा मैं ही हूँ । मैं स्वतःसिद्ध हूँ, अतः अपने पास स्वरक्षित हूँ । सम्यग्दृष्टि पुरुष के अत्राण भय नहीं होता ।

अगुप्तिभय व मरणभय के अभाव का संक्षिप्त विवरण—सम्यग्दृष्टि से अगुप्तिभय भी नहीं है । जैसे लोगों को यह भय हो जाता है कि हमारे घर की भीत कच्ची है, ऊँची नहीं है, दरवाजा छोटा है तो शत्रु अथवा डाकू कहीं से भी आक्रमण कर सकते हैं । कैसे मेरी रक्षा हो, मैं तो अरक्षित हूँ । ज्ञानी पुरुष के यह भय नहीं होता है क्योंकि वह जानता है कि मैं अपने स्वरूप में ऐसा गुप्त हूँ और अपने स्वरूप के ऐसे दृढ़ किले में रहता हूँ कि उसको कोई तोड़ नहीं सकता, भेद नहीं सकता । ऐसा ज्ञानी संत का दृढ़ निर्णय है, इस कारण उसे अगुप्तिभय नहीं रहता । छठवें भय का नाम है मरणभय । इसका वर्णन कल हो चुका था । ज्ञानी को मरण का भय इसलिए नहीं होता कि उसे विश्वास है कि मेरा मरण ही नहीं हुआ करता, भय किसका मानें? मेरा प्राण है ज्ञानदर्शन, जिसका उच्छेद नहीं होता । प्राणों के उच्छेद का ही तो नाम मरण है । मेरे प्राणों का विनाश नहीं है । मैं सदा ज्ञानदर्शनस्वरूप रहता हूँ । यदि प्राण ही मेरे चले जाएं तो इसका अर्थ यह है कि मैं असत् हो गया अर्थात् मेरा कुछ भी न रहा । सो लोक में ऐसा होता ही नहीं है कि जो हो उसका समूल अभाव हो जाये । ऐसा एक भी दृष्टान्त न मिलेगा । ईंधन है, जलकर राख हो जाता है पर उसका अभाव नहीं हो जाता है । उसके परमाणु धुआं बनकर सब फैल गए, कुछ परमाणु राख की शकल में आ गए, और राख उड़ जाये तो उसके छोटे-छोटे कण के रूप में सर्वत्र फैल गए । दिखे भी नहीं तो भी उसका सत्त्व कहीं नहीं गया । जितना सत् है, जितने परमाणु हैं, जितने पदार्थ हैं उनका तीन लोक में भी अभाव नहीं हो

सकता । मेरा कभी अभाव ही नहीं होता है । अज्ञानी तो मरण में इस बात को रोता है कि हाय मेरा घर छूटा, हाय मेरे लड़के छूटे, हाय मेरे घर के लोग छूटे, इसका खेद उस अज्ञानी को होता है । ज्ञानी को रंच भी खेद नहीं है । मरण का भय उसे नहीं है ।

आकस्मिक भय

ज्ञानी के आकस्मिक भय का अभाव—अब बतलाया जा रहा है कि इस जीव को आकस्मिक भय भी नहीं होता है । आकस्मिक भय उसे कहते हैं कि किसी ओर से अकस्मात् कोई उपद्रव आ जाये, उपसर्ग आ जाये । पर ज्ञानी जानता है कि यह तो मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ । अनादि अनन्त हूँ, अचल हूँ, स्वतःसिद्ध हूँ । जब तक यह है जितना यह है उतना ही यह है । यहाँ दूसरी चीज का प्रवेश ही नहीं हो सकता है । किसी भी परपदार्थ से मुझमें आयेगा क्या? अनादि काल से अब तक मुझ में अनन्त कार्माणवर्गणाओं का पुञ्ज निमित्त-नैमित्तिकरूप से एक क्षेत्रावगारूप से बंधनरूप को बनाता हुआ चला आया है तिस पर भी एक भी अणु मुझमें प्रवेश नहीं कर सकता । मेरे क्षेत्र में प्रवेश कर गया हो, पर मेरे स्वरूप में प्रवेश नहीं कर सकता है । मैं वही का वही रहा । एक बहुत मोटी बात है—एक गिलास में पाव-पाव भर दूध और पानी मिला दिए गए, वे एक जगह आ गए फिर भी दूध के अंश में पानी प्रवेश नहीं कर सकता और पानी के अंश में दूध प्रवेश नहीं कर सकता । जब सजातीय स्कंधों में भी बेमेलपना देखा जाता है तो ये तो अत्यन्त विजातीय पदार्थ हैं—आत्मा और पुद्गलकर्म । वे कैसे एक हो सकते हैं? ऐसा इस ज्ञानी संत के दृढ़ निर्णय है, उसमें किसी चीज का प्रवेश नहीं होता है ।

वहम, सितम, गजब—अपने आपके प्रभु का जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है जिसका केवल वही निज स्वरूपास्तित्व है, जिसमें रंच भी आपत्तियाँ नहीं हैं, कष्ट नहीं है, क्षोभ भी नहीं है, ऐसे अपने परमपिता परमेश्वर कारणसमयसार की दृष्टि न देकर यह जीव कितना विह्वल हो रहा है कितनी शंकाएं मचा रहा है? आज कुछ गजब न ढा जाये । इस दुनिया में गजब क्या होगा? यही कि धन का नुकसान हो गया । अरे इससे मुझ आत्मा पर क्या गजब है? धन तो पुद्गल का स्कंध है, आना-जाना तो उसके स्वरूप में है । वह यहाँ न रहा, किसी दूसरी जगह चला गया । क्या सितम ढा गया आत्मा पर और गजब क्या कहलाता है? परिवार का कोई मर गया, बिछुड़ गया, चला गया, क्या गजब हो गया? तो तू यह भ्रम किए था कि ये मेरे कुछ हैं; थे कुछ नहीं । जैसे जगत के अनन्त जीव हैं वैसे ही ये परिजन के जीव हैं । इनसे मेरा रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है । फिर भी संकट क्या हुआ? बस उस भ्रम का सहारा टूट गया, इसी को ही गजब कहा करते हो ना? तुम्हारे वहम का आश्रय मिट गया यह तो आनन्द की बात होना चाहिए था, कि लो अब मेरे विकल्प का आश्रय नहीं रहा, अब मैं अन्तरोन्मुख रह सकूँगा, पर इस जीव ने अपने आप ही अपने पर अपनी भूल से सितम ढा रखा है । सितम कहते हैं जुल्म को और गजब क्या होगा? यही गजब हो सकता है कि दुनिया के लोग मेरा अपयश करेंगे, निन्दा करेंगे । यह तो जीव के गजब की बात नहीं है ।

निन्दा में विपत्ति का भ्रम—भैया ! धन के न होने से तो थोड़ा वर्तमान में इतना क्लेश हो सकता है कि अब रोटी कैसे खाये, पेट कहाँ से भरें? अपने परिवार के लोग न रहने से थोड़ी यह बात अनुभव की जा सकती है कि मुझे खाने पीने, नहाने धोने को कौन आराम देगा? सो उनके उपयोग से तो कुछ साधारणतया माना भी जा सकता है कि थोड़ी तकलीफ हो गई, पर एक-दो, दस या सर्व जगत के जीव एक स्वर से मिलकर निन्दा की बात कहने लगे तो उससे तो यहाँ कुछ बाधा नहीं हो सकती है । मानने के लिए तो जिस चाहे बात को बाधा मान लें । गजब और दुनिया में क्या होगा? एक बड़ा यह भी अपराध चल रहा है कि मोही मलिन पुरुषों के मुख से दो बातें सुनकर अपने आपको भूल जाते हैं और ज्ञान को गड्ढे में पटक देते हैं । उसे गजब नहीं मानते हैं।

स्वच्छन्दता की अहितकारिता—मोही जीवों को जो अपने को परपरिणति प्रतिकूल लगती है उसे तो समझते हैं कि यह अनहोनी हो रही है और जो परपरिणति अपने को अनुकूल जंचती हैं उसे मानते हैं कि यह बात तो मेरे जैसे नवाब के लिए होना ही चाहिए । पर ये सारे विभाव आत्मा पर क्लेश के लिए ही आये हुए हैं । ये सब किसी परपदार्थों से नहीं आये, कर्मों से नहीं आये हैं। कर्मों का उदय तो निमित्तमात्र है । ये विभाव मेरी ही अज्ञानपरिणति से उठे हुए हैं । मुझ पर कोई विपत्ति आती है तो मेरे ही अज्ञान परिणामन से आती है, किसी अन्य पदार्थ से नहीं आती है । हममें आकस्मिक कोई विपत्ति ही नहीं है । किसी अन्य से विपत्ति नहीं आती । हम अपने को सम्हाले रहें सावधान बनाए रहें और मेरे ही किसी परिणाम से मुझे विपत्ति आ जाये सो ऐसा भी आकस्मिक उपद्रव नहीं है ।

ज्ञान व आत्मा का अभेद—यह ज्ञान एक है, अखण्ड है, बिखरा हुआ नहीं है । स्वरूप को देखो तो इसमें लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई नहीं है । लम्बे, चौड़े रूप में फैले हुए ढंग में अनुभव होता है तो आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु ज्ञान का अनुभव लम्बे चौड़े फैले हुए ढंग से नहीं होता है । फैले हुए ढंग से ज्ञान का अनुभव होगा तो कितना ही लम्बा चौड़ा फैले हुए ढंग से अनुभव होगा, पर आनन्द का अनुभव होगा तो केवल आत्मप्रदेश मात्र में हो जायेगा । यह ज्ञान एक है, अखण्ड है, ज्ञानमय आत्मा एक पदार्थ है, अनादि है, अनन्त है, अचल है । ज्ञान अथवा आत्मा कहो, इसमें भेद न डालना । ज्ञानगुण का भेद वस्तु के निहारने का आनन्द खो देता है । यह ज्ञान स्वतःसिद्ध है । जब तक है तब तक सदा वही है । यह ज्ञान कब तक के लिए है—इस ज्ञानपरिणति की बात कही जा रही है । इस ज्ञानस्वभाव की बात जो समग्र ज्ञान पदार्थ का मूल स्रोत है, जहाँ अनन्त ज्ञान परिणतियाँ निकलीं और निकलेगी, फिर भी जिसका ज्ञानभण्डार कभी रिक्त नहीं होता है ऐसे उस ज्ञानस्वभाव की बात कही जा रही है । वह ज्ञानस्वभाव कब तक है? अनन्त काल तक है । जब तक है वह वही है, उसमें दूसरे का उदय नहीं है । इसलिए ऐसा भी कुछ नहीं है कि इस आत्मा में अकस्मात् कोई नई बात उत्पन्न हो जाये ।

आत्मा में अन्य किसी से भय का अभाव—मुझमें जो हो सकता है वही होता है । जो नहीं हो सकता है वह त्रिकाल नहीं होता है । ऐसा विचार करने से अकस्मात् भय सर्व समाप्त हो जाता है । सभी द्रव्य हैं

और अपने स्वरूप से हैं, परिणमते हैं, और अपने में ही परिणमते हैं । ये चार विशेषताएं प्रत्येक द्रव्य में स्वरसतः पायी जाती हैं और इन्हीं विशेषताओं के कारण यह लोकव्यवस्था बन रही है । यदि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य को अपना स्वरूप, अपनी शक्ति, अपनी परिणति कुछ भी देने लगे तो यहाँ संकर व्यतिकर हो जायेगा, कोई पदार्थ फिर रहेगा नहीं । एक ने दूसरे को बदला, उसने दूसरे को बदला । यदि दोनों ही परस्पर में एक दूसरे को बदलने लगे तो संसार में कुछ न रहेगा । यह सारा विश्व आज तक है, यह इस बात का प्रमाण है कि प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध हैं और अपने में परिणमते रहते हैं । इस प्रकृति को कोई भी पदार्थ कभी भी छोड़ नहीं सकता है । जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब मुझमें किसी दूसरे पदार्थ से उपद्रव आ जाये, यह कैसे हो सकता है?

दुःख का कारण स्वकीय अपराध—हम जब-जब दुःखी होते हैं तब-तब अपने अपराध से ही दुःखी होते हैं । दूसरे के अपराध से हम दुःखी हो सकें ऐसा त्रिकाल भी नहीं हो सकता है । कोई-सी भी घटना ले लो, किसी भी प्रसंग में हम दुःखी हैं तो अपना ही अपराध विचारें । अपने अपराध बिना हम दुःखी नहीं हो सकते हैं । दुःख ही एक अपराध है, उस अपराध को कोई दूसरा नहीं कर सकता है । मोटे रूप से कहा भी है कि एक हाथ से ताली नहीं बजती । अपराध वहाँ दोनों का होता ही है । तो दोनों के अपराध में ऐसा नहीं है कि अन्य के अपराध से अन्य कोई दुःखी होता हो । दोनों ही अपराध करते हैं और दोनों ही अपने-अपने अपराध से दुःखी होते हैं । ऐसी एक घटना ले लो कि कोई मुनिराज शांत स्वभाव से बैठे हुए हैं और अनेक लोग उन्हें गालियां दें, निन्दा करें और कभी मारपीट भी करें, अनेक दुःख भी दें, अब बतलाओं कि वे मुनिराज दूसरे के अपराध से दुःखी हो रहे हैं ना? अरे ऐसी बात नहीं है कि कोई मुनिराज किसी दूसरे पुरुष के अपराध से दुःखी हो जाये । वे अपने अपराध से ही दुःखी हुए, प्रथम तो अपने स्वरूप से चिगे, यह दुःख है, यह अपराध है । अब और देखो—वह ज्ञानी संत ज्ञानदेव को मिटाकर उस दुःख पर्याय में जो आया है उसके दुःखी होने का अपराध बहुत पहिले से चला आया । कभी कषाय किया था जिसके निमित्त से इस ही प्रकार के कर्मों का बंध हुआ और उस बद्ध कर्म के उदय का ऐसा निमित्त जुड़ा कि क्लेश हुआ । तो उस जीव के पहिले समय में अपराध हुआ था जिस अपराध की परम्परा में इसे आज आकुलित होना पड़ा ।

दुःख में वर्तमान अपराध—भैया और कहा जा सकता है कि ये तो पहिले भव के अपराध आप कहे जा रहे हैं, इस ही भव के अपराध बताओ जीव के अपराध हो सकते हैं । किसी दुश्मन ने सताया है आज वह शांत है । तो दुश्मन बना कब था, किस घटना में बना था? जैसे पाण्डवों को उनके वंश के या कौरव के वंश ने उनकी मुनि अवस्था में तप्त गरम लोहे के कड़े पहिनाए । उन पाण्डवों का अपराध इस ही भव का था कि उन्होंने युद्ध किया । उस युद्ध में उनके इष्ट जन हार गए, मर गए तो बदला चुका रहे हैं । जिसने इस भव में किसी के साथ कोई व्यवहार न किया हो और फिर भी उसे दुःख मिले तो इसमें अपराध क्या है? उत्तर—

पहिला अपराध यह है कि वह बहिर्मुख बन रहा है, अपने उपयोग से चिगकर किसी बाह्यपदार्थ में अपना उपयोग लगा रहा है, यह उसका एक विकट अपराध है। तो जितने भी जीव हैं वे सब अपने ही अपराध से दुःखी होते हैं, दूसरे के अपराध से कोई नहीं दुःखी होता है। क्योंकि किसी दूसरे की परिणति मेरे आत्मा में प्रवेश नहीं पा सकती है। यह ही आत्मा संतोष में न रहा और बाह्य पदार्थों में विकल्प करके व्यर्थ की झूठी पोजीशन में सार समझकर मायावी पदार्थों में विकल्प करने का ऊधम करो तो इस ऊधम करने का फल तो कोई दूसरा भोगने न आयेगा। जो अपराध करता है वही दुःखी होता है। अपराध किसी दूसरे पुरुष से नहीं प्राप्त होता है।

ज्ञानदृष्टि में निर्भयता—यह ज्ञान स्वतःसिद्ध है। मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, इस ज्ञानमय आत्मा में किसी दूसरे का उदय ही नहीं है। मेरा ज्ञान ही काम है। स्वरसतः ही मेरी परिणति है, उस जाननस्वरूप में राग तक का भी उदय नहीं आता है। परवस्तु की बात तो दूर रही। इस जाननस्वरूप में इस जाननभाव के अतिरिक्त किसी अन्य गुण का विलास तक नहीं आ पाता है। अन्य पदार्थों की तो गति ही क्या है? तब इस मुझमें किसी भी दूसरे पदार्थ से कोई वृत्ति नहीं आती है। तब भय की कौन-सी बात है? ऐसी वृत्ति साधारणतया सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष के होती है। अपना ही बल अपनी मदद कर सकेगा। दूसरे का बल मेरे किसी काम का नहीं है। अपने ही वस्तुस्वरूप के निर्णय से उत्पन्न हुए ज्ञानबल का भरोसा रखना चाहिए। इस मुझ आत्मा में कुछ आकस्मिक होता ही नहीं है तब भय कहाँ से उत्पन्न हो? ऐसा निर्णय रखने वाला ज्ञानी पुरुष निःशंक रहता है और सदा सहज ज्ञानस्वरूप का अनुभव किया करता है। सहज ज्ञान कहते हैं जो आत्मा के सत्त्व के साथ ही हो। जब से आत्मा है तब से स्वरूप जो बना हुआ हो उसे सहज कहते हैं। जो वस्तु का निजस्वरूप है वही वस्तु का सहजभाव है। मेरा यह ज्ञानस्वभाव ही सहज पारिणामिक भाव है।

सहजता और पारिणामिकता का अविनाभाव—सहज और पारिणामिक—इन दो शब्दों का अविनाभावी जोड़ा है। सहज पारिणामिक होता है और पारिणामिक सहज होता है। सहज का अर्थ है जब से वस्तु का सत्त्व है तब से जायमान है वह सहज है। और पारिणामिक का अर्थ है कि जिसका परिणमन ही प्रयोजन हो अर्थात् जिस पर परिणमन तो चल रहे हैं, पर जो ज्यों का त्यों है उसे पारिणामिक कहते हैं। ज्ञानस्वभाव सहजपारिणामिक भाव है, इसकी दृष्टि निकट संसारी जीव को होती है, भव्य जीव को होती है। जिसने इस आत्मदर्शन की उपलब्धि की वह कृतकृत्य हो गया और जिसने इस आत्मदर्शन को न पाया, पुण्य के उदय से कितना ही महान वैभव पाया हो वह समस्त वैभव इस जीव के हित का कारण नहीं है, प्रत्युत अहित का ही कारण है। यह ज्ञानी जीव समस्त परपदार्थों की ओर से निःशंक रहता है, उसके किसी भी प्रकार का कोई विकल्प नहीं हो सकता है। आंधी चले, आग जले, तूफान चले, सारे लोक में हो-हल्ला मचे पर यह ज्ञानी तो आकाशवत् निर्विकल्प ज्ञानमय आत्मस्वरूप को देखता है।

ज्ञानी की निःशङ्कता—ज्ञानी संत समझता है कि मेरे आत्मा में किसी भी परपदार्थ का प्रवेश नहीं है, मैं कहाँ यहाँ वहाँ मुँह उठाऊँ? जैसे सारे नगर में कर्फ्यू मच गया खिड़की से जो झाँके उसी के गोली मार दो

यह आर्डर होता है । तो जिसने खिड़की से बाहर सिर निकाला उसके गोली लगी । तो इस प्रकार से तुम बाहर कहां दूकते हो, यहाँ कर्फ्यू चल रहा है, जगत में महान् उपद्रवरूपी परपदार्थों का ही हल्ला मच रहा है तो मचो । तुम कहाँ अपने ज्ञानानन्दमय गृह से चिग कर बाहर दूकते हो । ज्ञानी देख रहा है कि मैं तो अपने परमविश्राम गृह में हूँ, इस मुझ आत्मा में किसी भी परपदार्थ से कुछ उपद्रव नहीं आता है । सो वह निःशंक होता हुआ संत निज सहज ज्ञानस्वभाव का ही अनुभव करता है । इस प्रकार यह सम्यग्दृष्टि जीव ७ प्रकार के भयों से रहित है । ऐसी निर्भयता और निःशंकता ही इस सम्यग्दर्शन का प्रथम अंग है । यह निश्चय से निःशंकित अंग का स्वरूप चल रहा है ।

ज्ञानी का उद्यम—सम्यग्दर्शन के ८ अंगों के सप्तभयरहित अवस्था को बताया गया है । इसी प्रकार ८ अंगों का भी वर्णन है । अभी प्रथम अंग का प्राकरणिक लक्षण नहीं आया है किन्तु प्रथम अंग में जो भयरहित अवस्था होती है उस अवस्था का वर्णन किया है । सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि सर्व चिह्न समस्त कर्मों को हनन करते हैं अर्थात् कर्मों की निर्जरा करते हैं । और जिस कर्म का बंध पहिले होता था उसके उदय को भोगते हुए उस सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के नियम से निर्जरा होती है । कर्मों की निर्जरा का कारण है कि कर्मों का लगाव रखने वाले भावों का अभाव हो जाये । यह जीव कर्मों से स्वरसतः न्यारा है । कर्मों से न्यारा करने का और श्रम नहीं करना है । व्यर्थ का जो श्रम कर्मों के आने का हो रहा है उस श्रम को दूर करना है । इस जीव में ऐसी मोहबुद्धि पड़ी हुई है कि यह मोहवश है, राग हो रहा है । इस जीव का जीव ही है । जीव का परमाणु मात्र भी कुछ नहीं है । जीव का चतुष्टय जीव में ही है, उसका कुछ भी उससे बाहर नहीं है ।

अनन्त प्रभुओं पर अन्याय—ये दिखने में आने वाले जो मायामय स्वरूप मनुष्यादिक हैं इनसे कहीं मेरा कुछ सुधार न हो जायेगा । पर पर्यायबुद्धि ऐसी अपवित्रता है कि जहाँ सार भी नहीं है और चाह रहे हैं कि दुनिया में मेरा नाम हो जाये । जिसका जितना प्रसंग है, जितनी पहुंच है उतने घेरे के बीच यह चाहते हैं कि मैं दुनिया में अच्छा कहाऊँ । तो सब लोगों में अच्छा कहलाने की इच्छा होने का अर्थ यह है कि अन्य जो भगवान हैं, जीव हैं उनका आघात कर रहे हैं; मैं इन सबमें अच्छा कहलाऊँ इसके मायने हैं कि ये सब लोग न कुछ रहें, छोटे रहें, तो इन अनन्त भगवानों पर हमला किया कि नहीं? जो भगवानों पर हमला करेगा उसका क्या भला होगा? लोगों में अपना नाम बड़प्पन कहलवा लेना इसका भाव यही है कि तुम इन सबको ठुकराना चाहते हो । सबको ऊंचा देखने का भाव हो इसमें नम्रता की वृत्ति बनती है । मैं सबमें लीन हो जाऊँ, मुझे कुछ अपना बड़प्पन नहीं दिखाना है, ऐसी भावना में तो इसकी प्रगति है, और मोहवश यह जीव उल्टा चाहता है कि मेरा लोक में कुछ बड़प्पन बने । अरे इस लोक और संसार को ही मिटाने की आवश्यकता है । जब तक संसार में रहेंगे तब तक चतुर्गतियों में भ्रमण ही करना पड़ेगा, फिर कुछ न मिलेगा ।

ज्ञानदृष्टि के अभाव में विकट आधि—भैया ! ज्ञान की बात तो यह है कि अपने यथार्थस्वरूप का

निर्णय कर लें, हमारा स्वरूप आकाशवत् निर्लेप अमूर्त केवल ज्ञानमात्र है । इस स्वरूप की ओर जिसकी दृष्टि रहती है जो इस स्वरूप के उन्मुख होता है वह संत पूज्य है । ज्ञानियों के ज्ञान का मार्ग पवित्र और गुप्त है । इस असार संसार में अपने पर्याय का नाम जाहिर कर देने की बुद्धि बिल्कुल निष्फल जाती है । प्रथम तो इस धन की तृष्णा का थाह नहीं है । हजारपति हों तो लखपति होना चाहते । लखपति हों तो करोड़पति होना चाहते । जो करोड़पति हैं वे सुख चैन से नहीं खा पाते हैं । वे उससे ज्यादा की धुनि में हैं । कोई ऐसा धनिक नहीं है एक ज्ञानी पुरुष को छोड़ करके कि जो किसी धन से संतोष तो कर सके । इसी प्रकार जगत में नाम बढ़ाने की तृष्णा की भी थाह नहीं है । मोहल्ले में मेरा नाम रहे, हो गया, मेरा सारे नगर में नाम रहे, हो गया, तो अब सारे देश में नाम हो, लो हो गया, अब देश से अतिरिक्त विदेशों में नाम हो, हो गया, सारे लोक में नाम हो । जैसे धन की तृष्णा की चाह नहीं है इसी तरह नाम की चाह की तृष्णा की भी चाह नहीं है । जैसे धन में तृष्णा करना व्यर्थ है क्योंकि सब छूट जायेगा । और वर्तमान में भी जब तक धन का साथ है तब तक भी कुछ संतोष आराम सुख नहीं है । और जिन्हें संतोष है उन्हें धन के कारण संतोष नहीं है किन्तु ज्ञान के कारण है । इसी तरह मर मिटे, लो नाम गया । यह जीव मरकर मान लो घोड़ा बन गया और यहाँ नाम बहुत फैला हुआ है, जगह-जगह कीर्ति स्तंभ बने है, बड़े-बड़े बोट साइन लगे हैं तो लगे रहें, वहाँ तो उस जीव पर कोड़े पड़ रहे हैं । नाम वाला जब तक जीवित है तब तक भी आराम से नहीं रह पाता है ।

नाम की चाह अनन्तप्रभुओं पर अन्याय—ज्ञान का मार्ग जिन्हें मिलता है वे ही आराम पा सकते हैं । अज्ञान में तो आराम है नहीं । और फिर मोटी बात यह है कि लोक में नाम चाहने का अर्थ यह है कि मैं बड़ा कहलाऊँ और ये सब न कुछ रहें, तुच्छ रहें । तो इसका अर्थ क्या यह नहीं हुआ कि तुमने हजारों भगवानों पर आघात किया? एक पर्यायबुद्धि में बहकर अज्ञान में मानी हुई कुमति के पथ में होकर इन सब प्रभुओं पर आक्रमण कर रहे हो । ये न कुछ रह जायें मैं इन सबमें बड़ा कहलाऊँ यही तो इस चैतन्य भगवत् स्वरूप का आघात है । इतना अपराध करने के फल में क्या यह आराम से रह सकेगा ? कोई किसी दूसरे पर अन्याय करता है तो वह भी व्यथित रहता है और जो अनन्त प्रभुओं पर अन्याय कर रहा है, उनका आघात कर रहा है, तो अपनी कुमति के भावों से क्या वह आराम से रह सकेगा? नहीं । यही कारण है कि नाम चाहने वाला कभी सुख से नहीं रह सकता ।

नामचाह की व्यर्थता—धन तो कदाचित् कुछ पीड़ा हरने का हेतुभूत हो सकता है । कदाचित् अपने व्यवहारधर्म के चलाने में सुविधा का आश्रय हो सकता है, क्योंकि स्वास्थ्य अच्छा रहे तो धर्म की साधना में सहायता मिलती है, पर नाम से क्या मिलता है? नाम चाहने वाले लोग इसी कारण आराम से नहीं रह सकते हैं । यह पिशाच ऐसा विकराल पिशाच है कि इसके फन्दे में कोई आ तो जाये, फिर यह जीवन भर सुख से नहीं रह सकता है । कभी ज्ञान की झलक ऐसी आए कि अपनी पर्याय को भी अपने स्वरूप से उपयोग द्वारा दूर निकाल फेंके और केवल पारिणामिक भाव स्वरूप निज चैतन्यस्वरूप का आदर रखे तो इसको शांति हो

सकती है ।

अष्टाङ्गों की अशुचिविनाशकता—यहाँ सम्यग्दर्शन के ८ अंगों का वर्णन चलेगा । उन ८ अंगों में शुद्ध भावों की घोषणा है । शुद्ध भाव को धर्म कहते हैं । जो अशुद्धताएँ हैं उनको हटा लो शुद्धता प्रकट हो जाये । शंका करना, भय करना यह अशुद्धता है । उसके हटने से निःशंकित अंग प्रकट होता है । इच्छा करना, निदान बाँधना, इच्छा की चाह करना, पर के उन्मुख बनना ये सब संकट हैं, अपवित्रताएँ हैं । इन वाञ्छाओं को दूर करने से निःकांक्षित अंग प्रकट होगा । किसी से ग्लानि करना उसको तुच्छ समझे बिना नहीं हो सकता है । किसी को तुच्छ समझा जाये तभी तो उससे ग्लानि हो सकती है । यही अपवित्रता का परिणाम है । यह ग्लानि का परिणाम दूर हो इससे निर्विचिकित्सक गुण प्रकट होता है । अपवित्रताएँ हटाने का ही नाम रत्नत्रय है । सम्यग्दर्शन अपवित्रता दूर होने से, मिथ्यात्व दूर होने से प्रकट होता है । सम्यक्चारित्र मिथ्याचारित्र की अपवित्रता दूर होने से प्रकट होता है । अपवित्रताएँ दूर हुई कि इसमें यह अंग प्रकट होने लगता है । मोह बुद्धि होना, मुग्ध हो जाना, विवेक खो देना, जिस चाहे के पीछे लगना, अमुक देव से हित होगा, अमुक गुरु से हित होगा, वह देव है या कुदेव है, वह गुरु है या कुगुरु है इसका भी कुछ निर्णय न होना, ये सब अपवित्रताएँ ही तो हैं । इन अपवित्रताओं का न होना अमूढदृष्टि अंग है । कुगुरु किसे कहते हैं, कुदेव किसे कहते हैं कि देव तो न हो, गुरु तो न हो और देव गुरु माना जाये वही तो कुदेव और कुगुरु है ।

कुदेवत्व का आधार निज का विकल्प—भैया ! देव तो यहाँ के लोग भी नहीं हैं तो क्या ये कुदेव कहलाने लगे । जो देव नहीं है उसे कुदेव कहेंगे क्या? नहीं । जो देव नहीं है और उसे देव मानें तो कुदेव है तो कुदेवपना दूसरे प्रभु में है या उस मानने वाले के आत्मा की बुद्धि में है? दूसरा तो जो है सो है । आप भी देव नहीं हैं और स्त्री पुत्र रखने वाले जो लोग प्रसिद्ध हो रहे हैं वे भी देव नहीं हैं । सो देव नहीं है यह तो ठीक है पर हम लोगों का नाम कुदेव नहीं पड़ता है, और उनका नाम कुदेव पड़ा । तो इसमें कारण वे नहीं हैं, इसकी मान्यता है । स्वरूप तो ज्ञान में आ रहा है परिचय में आ रहा है कुदेवपने का और मान्यता बना रहे हैं देवपने की, इसी को कहते हैं कुदेव । और इस पद्धति से जो ऐसी जगह है क्षेत्र की जगह मान ली है कि वहाँ जाओ तो अपना कार्य सिद्ध होगा, पुत्र होंगे, विवाह होगा, मुकदमा जीतेगा, ऐसी बुद्धि रखकर मानना यह भी कुदेवपना हुआ कि नहीं? यह भी कुदेवपना हुआ क्योंकि कुदेवत्व तो पर में नहीं है । यह कुदेवत्व मानने वाले की बुद्धि में है । ये सुख दुःख देंगे ऐसा स्वरूप मानते हो, फिर उसे महावीर स्वामी बोले तो कुदेव का स्वरूप तो परिचय में आ रहा है और देव मान रहे हैं तो इसमें कुदेवत्व करना पड़ा कि नहीं? यह बात औरों के प्रति है कि देव स्वरूप नहीं है । स्त्री रखे हैं, शस्त्र रखे हैं, शंख चक्र रखे हैं, युद्ध करवाते हैं, जहाँ चाहे मौज उड़ाते हैं, यह देव स्वरूप नहीं है और देव माने उसे कुदेव कहते हैं । ऐसे ही सर्वत्र घटा लो । शुद्ध दृष्टि न होना सो मूढदृष्टि है । मूढदृष्टि अपवित्रता है । अपवित्रता के अभाव का नाम है अमूढदृष्टि ।

उपगूहन अंग का मर्म—दूसरे के दोषों को प्रसिद्ध करना, धर्मात्मा जनों के दोषों को प्रकट करना यह

अपवित्रता है। क्यों अपवित्रता है कि धर्म में कलंक लगता है। यदि कोई अपने धर्म का रूप रखे हो और दोष करता हो तथा अनेक बार विधिवत् समझाने पर भी दोष न छोड़ता हो तो उसके प्रति यह मेरा साधु नहीं है ऐसा प्रसिद्ध करो, फिर दोष कोई प्रकट करो तो धर्म में कलंक न लगेगा। यह भी दुनिया को बताओ कि यह मेरा साधु है, यह मेरा गुरु है, यह मेरा साधुर्मी है और फिर दोष कहो तो यह अपवित्रता है। एक बार निर्णय दे दिया कि यह उस लाइन का है नहीं, यह धर्मात्मा नहीं है, फिर दोष कहो तो धर्म में कलंक नहीं है। अपना भी माने और दोष भी लोक में प्रकट करे तो यह धर्मपालन के विपरीत बात है, यह अपवित्रता है। कोई किसी पर अन्याय करे, धर्मात्मा के दोष दुनिया में प्रकट करे तो क्या यह एक व्यक्ति पर अन्याय है? नहीं। सारी जनता पर अन्याय है। यह जनता श्रद्धा से हट गई। धर्म में कुछ लगने की जिसकी भावना है वह यह सोचेगा कि यह तो ऐसा ही होता है, कुछ यहाँ तत्त्व नहीं है यों सोचकर वह श्रद्धा से चिग गया है। तो इसमें उसने हजारों लाखों पर अन्याय किया। जिसने धर्मात्मा का दोष प्रकट किया उसने उन भगवंतों पर अन्याय किया। यह अनुपगूहन अपवित्रता है। इसके नाश होने को उपगूहन कहते हैं।

स्थितिकरण का मर्म—जिसमें बल है, सामर्थ्य है ऐसा पुरुष दूसरे धर्मी पुरुषों को धर्म से विचलित देखे और उनको सहयोग न दे, उनको धर्म में स्थिर न करे और देखता जाये, तो उसके धर्म की तीव्र रुचि नहीं है। जिसे धर्म में रुचि होती है वह जानता है कि जो अपने धर्म को सम्हाले, अपने स्वभाव को सम्हाले वह पुरुष संकटों से दूर हो जाता है। वहाँ यह नहीं है कि दूसरे मोक्ष जाने वाले तैयार हैं तो हमारे मोक्ष का नम्बर देर से आए। उसमें रुकावट नहीं होती है। बल्कि उस धर्मपथ पर जाने वाले के प्रति अनुकंपा व गुणस्मरण जगता है तो अपने धर्म में प्रगति होती है। विचलित होने वाले पुरुष को धर्म में स्थिर कर देना यही अपवित्रता का विनाश है और गिरते हुए को धक्का लगा देना यही अपवित्रता है ईर्ष्या। अविवेक जब जगता है तब जाकर ऐसी परिणति होती है कि हो रहा है तो हो रहा है। गिर रहा है तो गिरने दो। उसे छोड़ देने से वह और गिर गया। मनुष्य का सर्व कुछ बल वचनों में है। वचनों से ही किसी को सम्हाल ले और वचनों से ही किसी को गिरा दे। तन, मन, धन, वचन इन सबमें वचन की चोट बहुत बुरी होती है। और लगता भी कुछ नहीं है। लेकिन अविवेक का जब उदय है तो अपने वचन अपने से सम्हाले नहीं जा सकते हैं। कषाय भीतर में भरी हो तो वचनों को ऐसे निकल जाना ही पड़ता है। इन्हीं वचनों के द्वारा बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन्हीं वचनों के द्वारा लोगों की सम्हाल हो जाती है। गिरते हुए जीव को गिरने देना, देखते रहना, यह भावना न हो कि इसको सहयोग दूं और इसका परिणाम स्थिर हो जाये, तो इसे कहते हैं अपवित्रता। पहिले समय में स्थितिकरण का बड़ा यत्न होता था। आज के युग में जुदी-जुदी खिचड़ी पकाने जैसा ढंग बढ़ गया है। बहुत समय व्यतीत हो जाता, यह पता नहीं रहता कि हमारे मोहल्ले में धर्मीजन कितने रहते हैं। पड़ोस में भी इतना पता नहीं रहता है। पढ़े लिखे, ज्ञानी, संत, समझदार गृहस्थ लोगों का पता ही नहीं है कि कहां कौन है? तो ऐसी अस्थितिकरण होने जैसा ढंग अपवित्रता है और इस अपवित्रता के अभाव को स्थितिकरण कहते हैं।

इन सब दोषों में और है क्या? अशुद्ध भाव । प्रेम परस्पर में न रहना, प्रेम के बजाये विद्वेष बढ़ जाना एक दूसरे को न सुहाना—ये सब कहलाते हैं भावजन्य अपवित्रता । निज शुद्ध चेतन का बोध हो तो उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप के दर्शन हों । और ऐसी प्रीति जगे कि अहो यहाँ तो सर्व समानता है । जो मैं हूँ सो ही सब हैं! भगवान के लिए ऐसा कह लिया जाता है कि जो भगवान सो अहं । जो भगवान हैं सो मैं हूँ और अपने धर्मीजनों के प्रति इस बात की झलक न आ सके कि अहो सब एक ही तो मामला है । वही सर्वत्र विराजमान है । जो यह है सो मैं हूँ, जो मैं हूँ सो यह है । साधर्मी जनों से ऐसा जो घुलमिल न सके उसे अपवित्रता कहते हैं । न घुलमिल सके तो न सही, पर अपना ज्ञान तो सही बना लेना चाहिए । जिसे अपने चैतन्यस्वरूप का दर्शन हुआ, मुक्ति का मार्ग मिला वह उस मार्ग से चलकर वहाँ घुलमिल सकता है । ऐसा वात्सल्य ज्ञानी संतों के होता है । साधर्मी जनों पर अवात्सल्य रखना यह दोष है, और इस दोष के अभाव में सम्यग्दर्शन का वात्सल्य गुण प्रकट होता है ।

अप्रभावना की अपवित्रता—लोगों के बीच में धर्मात्माजन देखे जा रहे हों और उन धर्मात्माजनों के प्रति अपनी जिम्मेदारी न समझें, अपने हित की बात पर जोर न दे सकें और यथा-तथा प्रवृत्तियाँ कर डालें यही है अप्रभावना । धर्म की प्रभावना धर्मात्माजनों के चरित्र द्वारा होती है । सदाचार का एकदम सीधा प्रभाव पड़ता है । पहिले समय में खजांची प्रायः जैन ही पुराण में सुने गए हैं । इतिहास में मुगल बादशाह हुए तो क्षत्रिय बादशाह हुए तो खजांची, कोषाध्यक्ष अथवा सलाहकार संख्या के अनुपात से कई गुणा अधिक जैन लोग हुए । और कचहरी में गवाही देने वाला जैन है इतना ज्ञात होते ही इसकी गवाही में कई गुणबल आ जाता था । कारण यह था कि ज्ञान था, वैराग्य था, उदारता थी, संयम का पालन था, बाह्य सदाचार, अंतरंग सदाचार उन सबका प्रभाव था । आज देश के आगे अब वह स्थिति नहीं रही । यह सब अप्रभावना दोष का फल है । तो अप्रभावना अपवित्रता है । इस अपवित्रता के अभाव में प्रभावना अंग प्रकट होता है ।

सम्यक्त्व की विशेषता—सम्यग्दर्शन के ८ अंग आत्मा के शुद्धभाव हैं और ये ही समस्त लक्षण सम्यग्दृष्टि के कर्मों को नष्ट करते हैं । क्योंकि इस सम्यग्दृष्टि पुरुष ने टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अपने ही स्वभाव से एकत्रित उपयोग में बसाये गये ज्ञान सर्वस्व को प्राप्त कर लिया है सो अब कर्मों के आस्रव बंध का कारण नहीं रहा । अतः निर्दोष सम्यग्दृष्टि पुरुष समस्त कर्मों को दूर करता है । सो अब उनके कर्मों का ही बंध नहीं रहा और जो पूर्वभव में अज्ञान से कर्म बंधे थे उनका उदय आ रहा है और विपाक काल में अनुभव भी हो रहा है क्लेश भी आ रहा है पर समतापरिणाम से उन सबको भोग रहे हैं, टाल रहे हैं इसलिए पूर्वबद्ध कर्मों की भी उनके निर्जरा ही होती है । अब इसके बाद सम्यग्दर्शन के ८ प्रकार के दोषों के लक्षण का विवरण सहित क्रम से वर्णन चलेगा ।

अब निःशंकित अंग का स्वरूप कह रहे हैं ।

गाथा २२९

जो चत्तारि वि पाए छिंददि ते कम्म बंधमोहकरे ।

सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वा ॥२२९॥

जो पुरुष अर्थात् आत्मा कर्मबंध के कारणभूत मोह भाव को उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, इन चार पादों को निःशंकित होता हुआ काटता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।

संसार विष वृक्ष का मूल—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग, ये चार संसारवृक्ष के मूलभूत हैं । संसार इन ही परिणामों का नाम है, जिनमें मुख्य है मिथ्यात्व । अपने आत्मा के स्वरूप का यथार्थ परिचय न हो और बाह्य पदार्थों को अपना स्वरूप माने यह सब मिथ्यात्व भाव है । जब यह जीव इतनी बड़ी भूल में रहता है कि जिसे अपने और पराये का भी ठीक ठिकाना ज्ञात नहीं है तो उसका काम संसार में रूलना ही है । और मिथ्यात्व होता है तो अविरति, कषाय और योग भी पुष्ट होता है । मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने पर भी कदाचित् कुछ समय तक अविरति, कषाय और योग रहता है, किन्तु मिथ्यात्व के अभाव में अविरति आदिक में वह जोर नहीं रहता है जो मिथ्यात्व के होने पर रहता है । यह अविरतिभाव मिथ्यात्व के साथ हो तो उसमें अधिक जोर रहता है । जहाँ यह ही पता नहीं है कि विषयों से रहित केवल शुद्ध ज्ञानदर्शनमात्र मैं हूँ तो वह अविरति के भाव में ही अपना हित मानेगा सो अधिक आसक्त होगा । जो मिथ्यात्व से रहित ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव है उसके जब तक अप्रत्याख्यान कषाय का उदय चलता है तब तक अविरति भाव होता है किन्तु उस अविरति भाव में रहकर भी, विषयों की साधना करते हुए भी हटाव रहता है, वियोगबुद्धि रहती है कि मैं कब इससे अलग हो जाऊँ? इसी प्रकार कषाय भाव की भी यही बात है । योग भी मिथ्यात्व के मूल से चलकर आगे भी सिलसिला बनाये रहता है । इस प्रकार इन चारों का बंधन मिथ्यात्व में दृढ़ रहता है । मिथ्यात्व के अभाव से इन तीनों का बंधन शिथिल हो जाता है ।

निरंग-निस्तरंग आत्मा में रंग व तरंग का कारण—भैया ! द्रव्यकर्म और भावकर्म व क्षेत्रांतर रूप प्रदेश, क्रिया—इन तीन प्रकार के कर्मों से रहित आत्मा का स्वभाव है, पर इस मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के निमित्त से द्रव्यकर्म का भी संचय होता है, भावकर्म भी प्रकट होता है और क्षेत्र से क्षेत्रांतर रूप क्रिया भी चलती है । यों यह कर्मों का करने वाला होता है । इसी प्रकार मोह कषाय को भी उत्पन्न करने के कारण है । ये चारों पाद हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ।

आत्मद्रव्य का निरखन—आत्मद्रव्य मोहरहित है, यह तो शुद्ध प्रतिभासमात्र है । जैसे पुद्गल के डेले में निरखने चलते हैं तो वहाँ परमाणु मिलता है जो कि पिंड रूप है; रूप, रस, गंध, स्पर्श भी रहता है । इसी तरह आत्मस्वरूप के अन्तर में कुछ निरखने चलें तो वहाँ क्या मिलेगा? इन्द्रियों को संयत करके सर्वपदार्थों से भिन्न और अहित जानकर उपयोग को दूर करके परमविश्राम के साथ निरखो कि आखिर इस मुझमें बात है क्या? जब तक निरखने की बुद्धि चलेगी तब तक कुछ न मिल पायेगा । निरखने का यत्न प्रथम यत्न है ।

निरखने के यत्न में आत्मा का निरखना नहीं होता है। निरखने का यत्न एक आत्मा के दरबार के आंगन तक पहुंचा देना है। बाद में स्वयं ही स्वयं को स्वयं के द्वारा सहज ही बिना यत्न किए बल्कि क्रिया के यत्नों के श्रम के अत्यन्त दूर करने की विधि से यह आत्मा स्वयं निरखने में आता है। निरखने का यत्न करना मन का काम है और निरखना अनुभवना यह न इन्द्रिय का काम है और न मन का काम है। यह आत्मा का स्वरूप सहज होता है। इस आत्मा को निरखें तो क्या मिलेगा? केवल ज्ञानप्रकाश। ज्ञानप्रकाश के अतिरिक्त इस आत्मद्रव्य में और कुछ जानने, समझने ग्रहण करने को नहीं मिलता।

स्वभाव, परिस्थिति और कर्तव्य—भैया ! कैसा ज्ञान द्वारा रचित यह आत्मतत्त्व है, आकाश की तरह अमूर्त, ज्ञानघन यह एक चेतन पदार्थ जो समस्त पदार्थों से प्रधान व्यवस्थापक एक महान शोभा वाला है। तो यह आत्मद्रव्य मोहभाव से मुक्त केवल शुद्ध भावप्रकाश वाला है। लेकिन इन मिथ्यात्व, अविरति आदि परिणामों के कारण इसमें ऐसी मलिनता उत्पन्न होती है। सबसे महान् पुरुषार्थ यही है कि इस मैली पर्याय के होते हुए भी स्वभाव को दृष्टि में लें और स्वयं अपने आप जो केवल चैतन्यस्वरूप है उस रूप में अनुभव करें यही आनन्द का उपाय है। बाकी तो सब झंझट हैं। यहाँ जितनी बुद्धिमानी करो यह उतना ही उलझ जाता है। इस लोकव्यवहार में इन मायाचारी मिथ्यात्वियों को देखकर इनमें कुछ अपना कायम करने के लिए जितनी बुद्धिमानी चतुराई का व्यवहार बनाओ उतना ही यह जीव विकल्पजालों में उलझ जाता है। इस उलझन से मुक्त होने का उपाय सहजशुद्ध जो आत्मस्वरूप है, ज्ञान मात्र अर्थात् आत्मा के सत्त्व के ही कारण आत्मा में जो कुछ भाव है उस भाव की दृष्टि होना है। स्वभाव की दृष्टि होने पर ये सब उलझनें समाप्त हो जाती हैं।

दुनिया के बीच ज्ञानी का अपूर्व साहस—भैया ! क्या इतना साहस किया जा सकता है कि सारा जहान मिलकर भी कितनी ही निन्दा करे, तो हम यह जान सकें कि सारा जहान प्रत्येक जीव अपना परिणमन अपने आप में ही करके समाप्त होता है। उस समस्त जहान से बाहर इस मुझ उत्कृष्ट लोक के भीतर कुछ भी नहीं आता है। इतनी हिम्मत रहती है ज्ञानी पुरुषों में। क्या यह साहस किया जा सकता है कि समस्त जीव लोक भी मिलकर हमारी प्रशंसा के शब्द भी कहें तो हम वहाँ यह जान सकें कि यह समस्त लोक अपने विभाव से रागप्रेरणा से उत्पन्न हुए खुद की वेदना को शांत करने के लिए खुद में परिणमन कर रहे हैं उनसे मुझ उत्कृष्ट लोक में कुछ आना जाना नहीं होता है। ऐसी जीव लोक की परिणति के ज्ञाता दृष्टा रह सकने का साहस इस सम्यग्दृष्टि पुरुष में होता है। सारा महत्त्व जानन का है। कितना ही धन वैभव संचित कर लो, कितना ही परिग्रह जोड़ लो पर उस परिग्रही की त्रुटि ज्ञानी पुरुष को ही मालूम हो सकती है कि देखो यह है तो केवल अपने रूप, केवल चैतन्यमात्र सबसे न्यारा, कुछ भी सम्बन्ध किसी परवस्तु से नहीं है किन्तु उपयोग द्वारा बहिर्मुख होकर कितना दूर भागा चला जा रहा है, यह त्रुटि ज्ञानी संत पुरुष की ही मालूम हो सकती है।

मिथ्यात्वादि की बाधाकारिता—ये मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग बाधा के ही करने वाले हैं।

इस जीव का स्वरूप अनाकुलता का है किसी पर के द्वारा इसे बाधा आ ही नहीं सकती है । अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव अपने आपमें विकल्प करके अपने आपके ही विभावों से आकुलता मचाता है । एक भी अणु यह सामर्थ्य नहीं रखता कि किसी की आत्मा में परिणति बना दूं । किसी भी जीव में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह जीव किसी जीव में किसी प्रकार के गुणों की परिणति कर दे । सुख दुःख, रागद्वेष में कठिन कर्मों का उदय निमित्त हो सकता है और उनका निमित्त पाकर यह जीव अपने आप में रागद्वेष सुख दुःख आदि उत्पन्न करने का असर पैदा करता है । और इस असर के निमित्तभूत होने के कारण यह उदय भी बाधा का करने वाला कहलाता है । किन्तु साक्षात् बाधा करने वाले आत्मा के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग भाव ही हैं । इन चारों पैरों से जिसके बल से यह संसार में चक्कर लगाया करता है उन पादों का जो उदय दूर कर देता है उसे निःशंक पुरुष सम्यग्दृष्टि है ऐसा जानना चाहिए ।

सम्यग्दृष्टि की निःशंकता का विषय—मिथ्यात्व का तो अभावरूप छिदना होता है और अविरति, कषाय और योग कहीं अभावरूप छिद जाता है तो उससे पहिले यह जर्जरित हो जाता है । मिथ्यात्व का अभाव हो तो यह सम्यग्दृष्टि होता है और अविरति आदिक जर्जरित हों और आगे बढ़कर इनका भी अभाव हो ऐसी उत्कृष्टता बढ़ती जाती है । सम्यग्दृष्टि जीव निःशंक रहता है । यह निःशंक किस विषय में रहता है? शुद्ध आत्मा की भावना के सम्बंध में । जैसे कोई सांप सामने से आ रहा हो और वह जगह छोड़कर हट जाये तो उस वृत्ति को सम्यक्त्व में बाधा करने वाली शंका नहीं कहते हैं । कोई लोग तो यह मान लेते हैं कि मनुष्य पैदा होता है तो मौज मान लेने के लिए होता है । जैसे बहुतों ने यह बना लिया है कि 'जिन आलू भटा नहीं खायो, वे काहे को जग में आयो ।' जिसको जो सुहाता है वह वही गीत बनाता या बताता है । वर्तमान सुख को छोड़कर किस सुख की आशा करते हो? कितना ही बहकाया जाये, किन्तु अपने आत्मस्वरूप के सम्बंध में रंच भी शंका न हो, ऐसा निःशंक सम्यग्दृष्टि पुरुष होता है । सिगड़ी पास जल रही है और चद्दर की खूट में आग लग गई और उस चद्दर को लपेटे ही रहे तो क्या आप उसे भला कहेंगे? नहीं । अथवा कोई किसी नदी में से निकल रहा हो, चलते-चलते एक ओर जल अधिक गहरा मिले, और यह मालूम पड़ गया कि गड्ढा है तो हटे नहीं और वह गिर जाये तो यह कोई निःशंकता की बात नहीं है । किन्तु शुद्ध आत्मस्वरूप के सम्बन्ध में वह सदैव निःशंकित रहता है ।

ज्ञानी की प्रक्रिया—भैया ! वह ज्ञानी पुरुष स्व सम्बेदन ज्ञान के बल से अथवा आत्मसंवेदन रूप शस्त्र से, खड्ग से इन चारों ही संसारवृक्षों को मूल से छेद देता है । उस निःशंकित आत्मा को सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । चूँकि सम्यग्दृष्टि पुरुष टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकभाव स्वरूप का उपयोगी होता है । अतः कर्मबंध की शंका करने वाले मिथ्यादृष्टि आदिक भाव नहीं पाये जाते हैं । अतः वह निःशंकित रहता है । यह जीव क्या बन सकता है? जो खुद का स्वरूप है उस परमात्मा के किसी भी परिणमन रूप बन सकता है, अपने स्वरूप के विरुद्ध कुछ भी परिणमन नहीं कर पाता है । तो होगा क्या? उसके ये अनन्तगुण हैं, उन अनन्त गुणों का परिणमन ही होगा और कुछ नहीं हो सकता । यह पूर्ण निश्चित है । इस पर किसी भी

परपदार्थ से आपत्ति नहीं आती है । हम ही अपने विभाव भयकारी बनाते हैं तो क्लेश पाते हैं । और यह भयकारी विभाव तब बनता है जब अपने ही कर्तापन को, कर्मफल को और करण को भूल जाते हैं ।

आत्मा की अभिन्नकर्तृकर्मकरणता—मैं ही कर्ता हूँ, किन्तु किसका कर्ता हूँ? जो मेरे में परिणमन चलता हो उस परिणमन का कर्ता हूँ, अर्थात् मैं मेरा ही कर्ता हूँ और मेरे द्वारा जो कुछ कार्य किया जाता है उसका प्रयोजन भी मैं हूँ, उसका जो फल है वह है सुखदुःख और आनन्द । इस तरह से परिणमा हुआ मैं हूँ । अंगुली टेढ़ी हो गई तो यह क्या है? अंगुली ही है । सीधी हो गई तो यह क्या है? अंगुली ही है । किसी भी परिणति में रहे अंगुली-अंगुली ही है । ये सुख दुःख रागद्वेष, ज्ञान, आनन्द ये सब आत्मा के हैं, पर अन्तर इनमें इतना है कि कोई तो है अस्थिरभाव और कोई है स्थिरभाव । जो स्वभावरूप परिणमन हैं उनकी संतान वैसी ही वैसी चलती है । यह जीव चैतन्यस्वरूप है, टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकभावमय है । जैसे टांकी से उकेरी गई प्रतिमा अपने ही पाषाणस्वरूप है, किसी दूसरे पदार्थ से लगी हुई नहीं है । जैसे मिट्टी, कागज आदि की प्रतिमा बनाई जाती है वह तो लगाव ही है । उस मूर्ति में एकत्वस्वरूप नहीं है, मगर टांकी से उकेरी हुई प्रतिमा पाषाण के ही स्वरूप है । ऐसे ही आत्मा की अवस्थायें आत्मरूप हैं ।

देवस्थापना में विवेक—जैन सिद्धान्त में देव की स्थापना कितने महत्त्वपूर्ण विधि विधान से सोची गई है । यहाँ मिट्टी की मूर्तियां नहीं बनती हैं, कारण यह है कि जैसा शुद्ध आत्मा है, स्वयं के एकत्व स्वरूप में है इसी प्रकार इस मूर्ति को भी आखिर बनाया तो इस ढंग से बनाया कि जिस उपादान से मूर्ति बनी उसका स्वरूप एकत्वस्वरूप है । लगाव वाली मूर्ति जैनसिद्धान्त में निषिद्ध है । कागज की बनाना, गोबर की बनाना, मिट्टी की बनाना यह सब निषिद्ध है । दूसरी बात यह है कि मिट्टी, गोबर, कागज से बनाई हुई मूर्ति में विनय नहीं रह सकती है । उसका टूटना फूटना न देखना हुआ तो पानी में सिराया जायेगा । कुछ तो करना ही पड़ेगा । वह स्थिरता से नहीं रह सकती । उस देव की स्थापना अस्थिर तत्त्व में हो और अगर वह टूटती फूटती फिरे या इस भय से सही पानी में सिरवाये तो यह देव का अविनय है । प्रभु की स्थापना पाषाण प्रतिबिम्ब में ही चिरस्थायी रह सकती है ।

पाषाणबिम्ब से रहस्यमय शिक्षा—यह प्रतिबिम्ब यह भी शिक्षा देता है कि जैसे हम किसी वस्तु के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं किन्तु जो पहिले थे सो ही अब हैं । जो पाषाण का बड़ा शिलाखण्ड रखा हुआ था या उसके भीतर जिस जगह में था मानो प्रतिबिम्ब पुरुष बनकर कह रहा हो परसोनीफिकेसन अलंकार से कि मैं उस बड़ी शिला में जहाँ का था वहाँ का अब भी हूँ, उस चीज को छोड़कर नहीं बनता हूँ, मुझे कारीगर ने नहीं बनाया है । मैं जो अब व्यक्त हूँ सो पहिले से बना बनाया हूँ । मैं पहिले अव्यक्त था । अब मैं लोक की निगाह में व्यक्त हो गया हूँ । यहाँ कह रहा है पाषाणबिम्ब । कारीगर ने मेरे स्वरूप को पहिचाना कि उस बड़े पाषाणखण्ड में यह विराजा है, मेरे इस स्वरूप को ढकने वाले जितने पाषाण थे, जितने अवयव थे उनको कारीगर ने हटाया । और समस्त आवरक अवयव जब हट गए तब मैं सब लोगों की निगाह में प्रकट दिखने लगा । हम तो उतने ही वहाँ भी थे यहाँ भी हैं । हम नये नहीं बने, चीजों के लगाव से नहीं बने ।

सावधानी के तीन कारण—पाषाणबिम्ब कह रहा है—हाँ यह बात अवश्य है कि मुझे पहिचानने वाला कारीगर बड़ा चतुर था । उसने पहिचाना और आवरण को ऐसी सावधानी से हटाया कि मेरा आघात न हो जाये । पहिले तो बड़े-बड़े पाषाणों को हटाया, उस समय भी हमारी भक्तिवश जितनी चाहिए उतनी सावधानी रखी । बड़ी हथौड़ी और बड़ी छेनी से हटाया आवरण को । बड़ा आवरण हट चुकने पर छोटी छेनी और छोटी हथौड़ी से छोटे-छोटे आवरण भी दूर किये । उसमें भी हमारी भक्तिवश उसने बड़ी सावधानी बरती । अब जब मध्यम प्रकार के आवरण हट गए तब उसने अत्यन्त अधिक सावधानी बरती । बिल्कुल पतली छेनी और हथौड़ी लेकर नाम मात्र की चोट देकर बड़ी सावधानी से सूक्ष्म आवरणों को हटाया । इतना काम कुशल कारीगर ने किया था । उसने मुझे नहीं बनाया । मैं तो वही हूँ जो पहिले पाषाण में अव्यक्त था । हे दर्शक ! हे भक्त ! तू भी अपने को सम्हाल । तू भी वही है जो अनादि से है और तू जब परमात्मत्व पायेगा तो कुछ नई बात न पायेगा । जो है सोई होगा । विषयकषायों के आवरणों को तू हटा । तू तो स्वयं सिद्ध परिपूर्ण स्वरूप वाला है, आवरण दूर होने के साथ ही तू व्यक्त हो जायेगा ऐसा यह प्रतिबिम्ब उपदेश दे रहा है मानो ।

प्रभुस्थापना पुरुष में न किये जाने का कारण—यह मूर्ति या स्थापना किसी अन्य पुरुष में नहीं की जाती है कि बना दें महावीर स्वामी किसी लड़के को । वह रागी है, द्वेषी है, अविवेकी है, कुछ से कुछ वचन बोलने वाला है । महावीर स्वामी का नाटक पूरा हो चुकने पर वह लड़का मूंगफली की गलियों में मूंगफली मांगता फिरे तो क्या वह प्रभु की विनय है? नहीं । जैसे एक बार राष्ट्रपति देश का बना दिया जाता है तब उसका जितना जीवन शेष है तब तक राष्ट्रपतित्व मिटने के बाद भी उसका आदर करते हैं । सरकार उसे बैठे-बैठे पेंशन देती है । जिससे लोग यह न कह सकें कि ये भारत के राष्ट्रपति थे, और आज खेती करके भी पेट नहीं भर पाते हैं । तो हम किसी में प्रभु की स्थापना कर दें और वह फिर दर-दर भीख मांगता फिरे तो क्या यह प्रभु की विनय है? तो कितनी बुद्धिमानी से यह मूर्ति का विधान बना हुआ है । उस मूर्तिवत् निश्चल ज्ञान स्वभावरूप का परिचय है ज्ञानी को तो कर्मबंध की शंका करने वाले मिथ्यात्व आदिक भाव नहीं होते हैं, अतः यह निःशंक है, इसके शंका, बंध नहीं है, शंका ही नहीं है, अतः इसके निरन्तर निर्जरा ही चलती है ।

उपदेशों का प्रयोजन—जैनसिद्धान्त में जितने भी उपदेश होते हैं उन उपदेशों का प्रयोजन स्वभावदृष्टि कराने का है । यह जीव स्वभावदृष्टि के बिना जगत में अब तक मिथ्यात्वग्रस्त रहकर अनेक संकट भोगता चला आया है । संसार के संकटों को दूर करने का उपाय है तो केवल एक स्वभावदृष्टि है । इसी कारण जितने भी उपदेश किसी भी अनुयोग में हों—प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग और उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार से कितने भी कथन हों, उन सबका प्रयोजन स्वभावदृष्टि निकालना चाहिए । जिस जीव को स्वभाव दृष्ट होता है वह निःशंक रहता है क्योंकि वह जानता है कि मेरा स्वरूप स्वतःसिद्ध है, इसमें परचतुष्टय का प्रवेश नहीं है । इसका कोई गुण इससे पृथक् नहीं हो सकता है । यह परिपूर्ण स्वरक्षित है । ऐसा बोध होने के कारण वह निःशंक रहता है और इसही बोध के कारण उसके किसी भी प्रकार के भोग व

वैभव की इच्छा नहीं उत्पन्न होती है । आज उसी निःकांक्षित अंग का लक्षण कह रहे हैं ।

गाथा २३०

जो दु ण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेषु ।

सो णिवकंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३०॥

चूंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् ज्ञायकस्वभाव का उपयोगी है, इसी कारण किसी भी कर्मफल में और सर्व वस्तु धर्मों में कांक्षा को नहीं करता है । उस निष्कांक्ष सम्यग्दृष्टि के कांक्षकृत बंध नहीं होता है ।

इच्छा के विवरण का ज्ञापन—इच्छा होना आत्मा का स्वभाव नहीं है । जैसे कि अभी बताया गया था कि जैनसिद्धान्त के उपदेशों का मूल प्रयोजन स्वभावदृष्टि करने का है । जैसे कि पदार्थ के स्वरूप के कथन में जहाँ स्याद्वाद का पुट न हो वह कथन प्रमाण नहीं होता, इसी प्रकार जिस कथन में प्रयोजन स्वभाव दृष्टि का न हो या सुनने का प्रयोजन स्वभावदृष्टि का न हो तो वह अपने लिए उपदेश नहीं हुआ । पदार्थों के स्वरूप का भी जितना वर्णन है वह वर्णन भी स्वभावदृष्टि कराने के लिए है, **न कि** जैसे कहावत है कि ठाढ़े बैठे बनिया का बेटा बैठा तराजू के बाट यहाँ से वहाँ रखे । खाली समय है तो बाटों से बाट तौलता है और अपना समय बिताता है । इसी तरह यहाँ पर सर्व रचनाओं के परिज्ञान करते रहना, उस ओर बाह्यदृष्टि करना, लो यह है, यह ऐसा है, इस तरह जानते रहने से कार्य सिद्ध नहीं होता । **समग्र उपदेश का प्रयोजन स्वभावदृष्टि कराने का है** । जहाँ विभाव का लक्षण किया है, स्वरूप वर्णन किया है वहाँ भी समस्त विवरण का प्रयोजन स्वभावदृष्टि कराने का है । जरा इच्छा के स्वरूप पर दृष्टि करो ।

इच्छा के स्वरूप का विवरण—इच्छा का परिणाम आत्मा में स्वरसतः नहीं होता है । यद्यपि है आत्मा के चारित्र गुण की विकारपरिणति । पर ऐसा नहीं है कि आत्मा में इच्छा या सभी विभाव भाव आत्मा में स्वभाव से बंधे हुए हों—और एक के बाद एक पर्याय बनने का इसमें स्वरसतः अधिकार हो । किन्तु कर्मोदय का निमित्त पाकर आत्मभूमि में इच्छा का विकाररूप परिणमन होता है । ऐसा भी नहीं है कि जब आत्मा में विभावपरिणमन होता हो तब कर्मोदय को हाजिर होना पड़ता हो । जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपने आपके स्वरूप में रत हैं । एक दूसरे के सत् के कारण अपनी परिणति किया करता हो, ऐसा कोई पदार्थ नहीं है, पर अपने विकारपरिणमन में एक दूसरे का निमित्त होता है । अब इस वर्णन में भी हम स्वभावदृष्टि का प्रयोजन कैसे निकाल सकते हैं? देख लीजिए । यह इच्छा मेरे स्वभाव से नहीं उत्पन्न होती, कर्मोदय का निमित्त पाकर यह इच्छारूप परिणमन होता है, अतः इच्छा मेरे अन्तर का परिणाम नहीं है । इस विभाव से इस दृष्टि की उपेक्षा होती है और स्वभावदृष्टि में इसे प्रेरणा मिलती है ।

अध्यात्म में जानने योग्य नयों का विवरण—अध्यात्म में जानने योग्य नय चार हैं—परमशुद्ध निश्चयनय, शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय । इन चारों नयों का प्रयोजन स्वभावदृष्टि कराने का है । परम शुद्ध निश्चयनय में साक्षात् प्रयोजन पड़ा हुआ है । परम शुद्ध निश्चयनय का विषय है वस्तु के

अखण्डस्वभाव का देखना, वस्तु के स्वभाव का भेद न करके स्वभावमात्र वस्तु निरखना यह परम शुद्ध निश्चयनय का कार्य है। परमशुद्धनिश्चयनय ने सीधा स्वभाव दृष्ट कराया। शुद्ध निश्चय का विषय है जो पर्यायतः शुद्ध है, जैसा शुद्ध प्रभु है, परमात्मा है, उस शुद्ध प्रभु को शुद्ध पर्याय परिणत निरखना और उस शुद्ध पर्याय का विकास उन्हीं के स्वभाव से होता है, इस तरह की युक्ति सहित निरखना। इस शुद्ध निश्चयनय के निरखने में चूंकि वह पर्याय स्वभाव के अनुरूप है अतः उस पर्याय के स्रोतभूत स्वभाव की दृष्टि कर लेना सुगम कार्य होता है।

अशुद्धनिश्चयनय से स्वभाव देखने की पद्धति—तीसरा नय है अशुद्ध निश्चयनय। अशुद्ध निश्चयनय का यहाँ विषय है अशुद्ध पर्याय परिणत आत्मद्रव्य को निरखना और इस पद्धति से निरखना कि अशुद्ध परिणति किसी अन्य द्रव्य से नहीं होती है, किन्तु इस निज से ही होती है जिसमें यह अशुद्ध परिणति है। ऐसा देखना अशुद्ध निश्चयनय का काम है। ये दृष्टियाँ हैं। सभी दृष्टियाँ अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हैं, दूसरों के कार्य की परवाह नहीं करती। समन्वय प्रमाण करता है। अब यह देखिए कि अशुद्ध निश्चयनय की दृष्टि से वस्तु को निरखते हैं। इससे स्वभावदृष्टि का प्रयोजन सिद्ध होता है या नहीं? अशुद्ध निश्चयनय में ये निरखे गए जीव हैं—इनमें यह राग परिणमन है। यह राग परिणमन इस जीव के चारित्रगुण के विकाररूप है और यह रागादि परिणति इसे चारित्र गुण की विकृत परिणति से हुई। यह अशुद्धनिश्चयनय का विषय है। निश्चयनय केवल एक वस्तु को देखा करता है—दो पर दृष्टि नहीं देता है और न वहाँ दो का सम्बंध देखा जाता है। इस अशुद्ध निश्चय की दृष्टि में जहाँ यह देखा गया कि ये राग क्रोधादिक पर्यायें आत्मा के चारित्र शक्ति की परिणति से हुई तो ऐसा निरखने में चारित्रशक्ति मुख्य हो जाती है और होने वाली पर्याय गौण हो जाती है। जब ऐसा निरखते हुए में यथाशीघ्र पर्याय से हटकर पर्याय के स्रोतभूत मूल शक्ति पर उपयोग पहुंचता है और उस आधारभूत शक्ति पर उपयोग पहुंचते ही स्वभावदृष्टि बन जाती है।

व्यवहारनय से स्वभाव देखा जा सकने की पद्धति—चौथा नय है व्यवहारनय। व्यवहारनय में भी यह देखना है कि हमें स्वभावदृष्टि से उत्साह कैसे जगता है? व्यवहारनय दो या अनेक पदार्थों का सम्बन्ध बतलाता है। चूंकि कोई भी विकारपरिणमन किसी पर का निमित्त पाये बिना नहीं हो सकता है, अतः यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध वास्तविक है, परन्तु व्यवहारनय से कुछ निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को देखते रहने तक का ही अपना प्रयोजन बनाया तो हमने उस उपदेश से लाभ न उठाया। समग्र उपदेश का प्रयोजन स्वभावदृष्टि कराने का है क्योंकि स्वभावदृष्टि के बिना ही ये जगत के जीव अनादि काल से अब तक इस जगत में रुलते चले आए हैं। जहाँ यह देखा कि इस जीव में ये विषय कषाय के परिणाम स्वरसतः नहीं हुए हैं पर उपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं, तब आत्मा का जैसा सहज स्वभाव है, उसको सुरक्षित तक लिया जाता है। यह मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, यह जो राग परिणमन हुआ है यह कर्मोदय का निमित्त पाकर हुआ है मेरे स्वभाव से नहीं हुआ है। ऐसा व्यवहारनय से जानने पर स्वभावदृष्टि के लिए हमें उत्साह जगता है।

ज्ञानी की लीला में स्वभावदर्शन—भैया ! जैनसिद्धान्त में कितनी ही जगह निश्चयनय के उपाय ने स्वभावदृष्टि में पहुंचाया है और कितनी ही जगह व्यवहारनय का वर्णन करके स्वभावदृष्टि पर पहुंचाया है । जैसे किसी खेल में निपुण बालक जो बहुत अधिक निपुण है उस खेल को खड़े, बैठे, डोलते हुए टेढ़े मेढ़े किसी भी प्रकार से अपने खेल को खेलता है । इसी प्रकार मर्मरूप से स्वभाव का परिचय पाने वाला ज्ञानी पुरुष किन्हीं भी नय के उपायों से या किन्हीं भी वर्णनों से, किन्हीं भी कथनों से अपनी स्वभावदृष्टि को कर लेने से उसके विलास को उत्पन्न कर लेता है ।

निःकांक्षता पाने की रीति—यहाँ निःकांक्षित अंग का वर्णन चल रहा है । सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी कर्मफल में और वस्तुधर्म में कांक्षा को उत्पन्न नहीं करता है । इस जीव पर सबसे महान् संकट है तो विकल्पों का संकट है । बाह्य पदार्थों से संकट नहीं आते हैं । धन नहीं है तो संकट है ऐसा नहीं है किन्तु जीव में विकल्प मच रहा है यह संकट है । यह विकल्प कैसे टूटे? इसके टूटने की रीति निर्विकल्प निज स्वभाव के दर्शन करने में है । अब निर्विकल्प निज स्वभाव के दर्शन कैसे हों, इसका उपाय दो पद्धतियों में बताया है । एक तो यह बतलाते हैं कि हे आत्मन् तेरा जो कुछ है वह तुझ में है, तेरा जो कुछ बनता है तुम से बनता है, तेरा पर में कुछ नहीं होता है । तुझमें पर का अभाव है पर में तेरा अभाव है, ऐसे एकत्व की मुख्यता से आत्मा को निज स्वभाव के दर्शन में पहुंचाया जाता है, विभाव से हटने की दूसरी पद्धति यह है कि जो ये विकल्प उत्पन्न हो रहे हैं ये विकल्प तेरे निज की चीज नहीं हैं । ये कर्मोदय का निमित्त पाकर हुए हैं । तेरा तो टंकोंकीर्णवत् स्वरस से जैसा सहज स्वभावरूप है वैसा ही तेरा स्वरूप है । पर ये जो विकार आए हैं ये कर्मोदय विपाक विभाव भाव हैं, ये मेरे स्वभाव नहीं है । ऐसे व्यवहारनय के उपाय से स्वभावदृष्टि तक पहुंचने की पद्धति भी यह सम्यग्दृष्टि करता है । जब तक निर्विकल्प शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वभाव की दृष्टि नहीं जगती है तब तक वह आत्मीय आनन्द नहीं प्रकट होता, जिस आनन्द में सामर्थ्य है कि भव-भव के संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं । यह सम्यग्दृष्टि जीव शुद्ध आत्मा की भावना कर रहा है । और उसी भावना के परिणाम में परम आनन्द की परिणति में तृप्त हो रहा है ।

ज्ञानी के पराधीन व विनाशीक सुख में अनास्था—जो ज्ञानी अनुपम स्वाधीन आनन्द को प्राप्त कर चुका हो वह पराधीन विनाशीक सुख की वाञ्छा कैसे करे? ये जगत के सुख पराधीन हैं । प्रथम तो इस सुख का मुख्य कारण कर्मोदय है । कर्मोदय अनुकूल हो तो यह सुख प्राप्त हो । फिर बाद में तो सुख के लिए आश्रयभूत वे अनेक पदार्थ जुटाने चाहिए । सो कर्म के उदय को जब नोकर्म नहीं मिलता तो वे कर्म भी संक्रान्त हो जाते हैं । यह सुख पराधीन है । पराधीन ही सही लेकिन जब मिला तब तो अच्छा है ना? ऐसा न सोचना चाहिए क्योंकि जो सुख उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने वाला हो, जो विनाशीक हो उसके पाने का क्या आनन्द है? सम्यग्दृष्टि जानता है कि संसार का सुख मिलता है तो वह नियम से यथाशीघ्र नष्ट हो जाया करता है । अतः सम्यग्दृष्टि को जगत के सुख का आदर नहीं होता है ।

इन्द्रियज सुख में दुःखबहुलता—कोई कहे कि पराधीन सही और विनाशीक सही मगर जिस क्षण को

सुख मिल जायेगा उस क्षण तो मौज यह जीव पा ही लेगा । सो इतनी भी बात नहीं है । कोई भी जगत का सुख ऐसा नहीं है जिसके भोगने के बीच-बीच में दुःख न आया करते हों । कोई भी सुख ऐसा नहीं है । धन के कमाने का सुख है तो उसके अर्जन के बीच-बीच में कितने ही संकट आया करते हैं । कोई समारोह करने का सुख है, पुत्र का विवाह है, बारात बड़ी ठाठबाट से जा रही है तो क्या उस पुत्र का पिता या जो अधिकारी माना जाये, जो अपने को सुखी समझता हो, या वह दूल्हा ही स्वयं क्या एक दो घंटे या आधा घंटे लगातार सुख से रह सकता है? नहीं । बीच-बीच में उसे कितने ही दुःख भोगने पड़ते हैं । अधिकारी तो अमुक को मनाएं, अमुक को मनाएं, कोई नाराज हो गया तो उसके हाथ जोड़े । भैया ! आपको जाना तो पड़ेगा । आपके जाये बिना काम ठीक न होगा । कितनी-कितनी बातें करते हैं? सुख में कौन रह पाता है? सारे लौकिक सुख दुःख से भरे हुए हैं । भोजन भी कोई करता हो तो प्रथम तो जो तृष्णा लगी है, आसक्ति लगी है, उसके मारे सब आनन्द किरकिरा हो जाता है । दुःख से ही कौर उठाता है । क्षोभ से भरा हुआ होकर वह भोजन कर रहा है । कौनसा सुख ऐसा है जो निरन्तर शांति को बहाता हुआ उत्पन्न होता है? ये समस्त सुख दुःखों से भरे हुए हैं और फिर इतना ही इनमें अनर्थ नहीं है । यह भी अनर्थ है कि पापबंध करा देता है । आगामी काल के लिए भी सुख का साधन जुटाकर यह सुख जाया करता है । ऐसे सुख में सम्यग्दृष्टि को आदर नहीं होता है ।

ज्ञानी के पुण्येच्छा का अभाव—सम्यग्दृष्टि ने शुद्ध ज्ञानमात्र अपने आपको तकने के उपाय से एक अनुपम आनन्द का अनुभव किया है जिस आनन्द में तृप्त होकर यह पंचेन्द्रिय के विषय सुखों में वाञ्छा नहीं करता है । वह इन्हें आफत जानता है । इनके प्रसंग में विकल्प करना पड़ता है । यह विकल्प होना कलंक है, क्लेश है । उन विकल्पों में इस सुदृष्टि की भावना नहीं रहती है । इसी प्रकार विषयसुख के कारणभूत नाना प्रकार के पुण्यरूप धर्मों में इसकी चाह नहीं रहती है । यद्यपि शुद्ध दृष्टि के कारण जब तक राग शेष है तब तक इसके पुण्यरूप कार्य होता है, पर अन्तर में से चाह कर कि इस पुण्य से मुझे मुक्ति मिलेगी अथवा मुझे पुण्य बंध जाये इसके लिए मैं पूजन करूँ ऐसी आशा रखकर वह पुण्यरूप कार्य को नहीं करता है । कहते भी हैं कि पुण्य की आशा रखने से पुण्यबंध नहीं होता है किन्तु विशुद्धि के शुद्ध प्रताप से इस जीव के पुण्य कार्य होता है, पर उन पुण्य कार्यों में यह आशा नहीं रखता है कि मुझे पुण्य बँधे अथवा इस पुण्य के प्रताप से मेरी आगामी स्थिति उत्तम हो ऐसी वाञ्छा ज्ञानी पुरुष नहीं करता है ।

ज्ञानी का आशय—ज्ञानी सब प्रकार के वस्तुधर्मों में अथवा कुधर्मों में वाञ्छा उत्पन्न नहीं करता । मिथ्यात्वरूप कोई कुधर्म चमत्कार सम्पन्न होने से कायर जनों को सत्पथ की दृष्टि से विचलित कर सकने के कारण है ऐसे कुधर्म में उसकी वाञ्छा उत्पन्न नहीं होती । मुझमें लौकिक चमत्कार न सही मुझे लौकिक चमत्कार की आवश्यकता नहीं है । मुझे तो एक स्वभाव दृष्टि चाहिए जिसके प्रताप से संसार के समस्त क्लेशों से मुक्त हो सकूँ । ज्ञानी पुरुष को भोगों में अथवा भोगों के कारणभूत पुण्यबंध में, उन चमत्कारों से भरे हुए धर्मों में वाञ्छा नहीं होती है । वह ही आत्मा सम्यग्दृष्टि है जो संसार के सुखों की वाञ्छा से रहित है ।

जिसके विषय सुखों की वाञ्छा नहीं है, इच्छा नहीं है उसके विषय सुखों के इच्छाकृत बंध नहीं होता है। बल्कि विषय सुखों की इच्छा दूर होने के कारण स्वयं संवररूप भाव होने से पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा ही होती है। इस तरह सम्यग्दृष्टि के निःकांक्षित अंग में वाञ्छारहित स्वरूप बताया गया है।

धर्मधारण के प्रयोजन में भोगेच्छा के स्थान का अभाव—छहढाला में निःकांक्षित अङ्ग के स्वरूप में लिखा है—‘वृष भव सुख वाञ्छा भाने।’ धर्मधारण करके भव सुख की इच्छा न करना सो निःकांक्षित अंग है। कहीं ऐसा नहीं है कि सम्यग्दृष्टि जीव के किसी प्रकार की इच्छा ही न उत्पन्न होती हो, व्यक्तरूप इच्छा छठे गुणस्थान तक चलती है, पर धर्मधारण करके उन धर्मों के प्रयोजन में किसी प्रकार के संसारी सुख की इच्छा करना यह ज्ञानी पुरुष के नहीं होता है। धर्मकार्य करता है, पुण्यकार्य करता है, स्वभावदृष्टि की महिमा जानकर उस स्वभाव का जहाँ पूर्ण विकास है ऐसे परमात्मप्रभु की भक्ति में गद्गद होकर वंदना और स्तुति में, स्तवन में प्रायश्चितरूप यह अपनी आत्मनिन्दा कर लेता है और प्रभु के शुद्ध स्वरूप को देखकर बड़ा आह्लाद उत्पन्न करता है। ऐसी वंदना, स्तुति के प्रसंग में यह जीव रहता तो है मगर उस कार्य से मेरे में पुण्य बंधे अथवा मुझे ऐसी-ऐसी स्थिति मिले इसकी रंच इच्छा नहीं होती है।

ज्ञानी गृहस्थ के मूल में निरीहता—सम्यग्दृष्टि जीव भी जो गृहस्थ है तो दुकान क्यों जाता है? क्या थोड़ी बहुत मन में यह बात न आती होगी कि काम करना है? कुछ आय होना चाहिए। वह निरुद्देश्य ही जाता होगा क्या? इच्छा होती है वह विकार है, कमजोरी है। पर धर्मधारण करके उसने अपने जीवन का उद्देश्य ही इस चीज को बनाया ऐसी ज्ञानी के प्रवृत्ति नहीं है। मेरे जीने का उद्देश्य यह है कि खूब धन जोड़ लें, ऐसा ज्ञानी के भाव नहीं रहता है। अथवा पूजा पाठ धर्मध्यान गुरु सेवा आदिक रखे यह प्रयोजन रखे कि मेरे सब प्रकार का आराम और कुशलताएँ रहें ऐसा ज्ञानी के परिणाम नहीं होता है। यह ज्ञानीपुरुष निःकांक्षित होता है। इसके कांक्षाकृत बंध इसी कारण नहीं है कि वह अन्तर में इसकी वाञ्छा नहीं रखता, किन्तु परिहरण स्वभाव होने से, उन सबसे हटा हुआ परिणमन बनाने वाला होने से उसके पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा होती है। यों निःकांक्षित अंग के प्रकरण में सम्यग्दृष्टि को निरीहता की मूर्ति, इच्छारहित मूर्ति जानो, इस तरह का स्वरूप दिखाया है।

ज्ञानी के वैषयिक सुख से उपेक्षा का कारण—जो जीव कांक्षा आदि भावरहित निज शुद्ध आत्मा का संवेदन करता है, ज्ञानमात्र स्वरूप में अपने आपको निहार कर उत्कृष्ट देखता है, उसी के साथ लीला करता है, उससे जो आनन्द प्राप्त होता है उस आनन्द में स्थित हुए ज्ञानी पुरुष के वैषयिक सुखों से प्रीति नहीं होती है। इस ज्ञानी ने ऐसा कौन-सा बल पाया जिस बल के कारण यह निरन्तर स्वाधीन आनन्दरस में तृप्त रहा करता है? वह बल है शुद्ध ज्ञानस्वभाव के दर्शन का। जगत में जितने भी समागम हैं उन समागमों से आत्मा में न कोई सुधार होता है और न कोई बिगाड़ होता है। कम बिगाड़ होने का नाम सुधार है। लेकिन कहा जाता है कि जैसे १०४ डि० बुखार हो और कभी दो डिग्री बुखार कम हो जाये तो वह बुखार वाला अपने में सुख का अनुभव करता है। कोई दूसरा पूछे कि अब कैसी हालत है तो वह कहता है कि हाँ अब अच्छी

हालत है। वस्तुतः बुखार तो अब भी है लेकिन बुखार की जो कमी है उसमें सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार जगत में बाह्य पदार्थों से कहीं सुख नहीं है किन्तु जब कभी दुःखों में कमी होती है तो उसे सुख कहा करते हैं। वस्तुतः सुख नहीं है। सुख तो आत्मा के शुद्ध ज्ञायकस्वरूप के अनुभव में ही है।

कालस्थिति व कर्मस्थिति की ओर से सम्यक्त्व की पात्रता का समय—अब बाह्यपरिस्थितियों से इस ज्ञानी के सम्यक्त्व का निर्णय कीजिये तो प्रथम प्रश्न यह होता है कि सम्यक्त्व का पात्र यह जीव किस समय होता है काल की अपेक्षा से? तो बताया गया कि जब अर्द्ध पुद्गल परिवर्तन संसार रह जाता है तब जीव में सम्यक्त्व होने की योग्यता होती है। फिर कर्मों की स्थिति के प्रश्न में पूछा जाये कि कर्मों की कितनी स्थिति बँधने पर जीव के सम्यक्त्व की योग्यता होती है? तो बताया है कि अंतः कोड़ाकोड़ी सागर मात्र स्थितिबंध हो तब जीव के सम्यक्त्व की योग्यता होती है। अंतःकोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति का कभी अभव्य के भी बंध रहता है और प्रायोग्य बंध में कम-कम होता हुआ हजारों सागर कम अंतःकोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति में बंध होता है। फिर भी वह सम्यक्त्व का पात्र नहीं है। मंद कषाय में और वस्तुस्वरूप के सम्बन्ध में कुछ चिंतन में इतनी सामर्थ्य है कि स्थितिबंध कम हो जाये, स्थिति सत्त्व भी कम हो जाये तिस पर भी यदि शुद्धस्वभाव की दृष्टि नहीं जगती है तब आत्मा में सम्यक्त्व नहीं होता।

सम्यक्त्व की महिमा—सम्यक्त्व की महिमा के सम्बन्ध में समंतभद्रस्वामी ने कहा है कि सम्यक्त्व समान तीन लोक और तीन काल में श्रेयस्कर कुछ भी वस्तु नहीं है और मिथ्यात्व के समान तीन लोक तीन काल में अश्रेयस्कर वस्तु और कुछ नहीं है। लेना न देना, पदार्थ सब अपने-अपने सत् में हैं; लेकिन अज्ञानी जीव प्रत्येक पदार्थ के सम्बन्ध में ऐसे आत्मीय विकल्प करता है कि वह सर्व जगत को अपना बनाने में उत्सुक रहता है। ज्ञानी जीव को समस्त परवस्तु पर नजर आती है इसलिए उसके वैराग्य निरन्तर रहता है। ज्ञानी के यह प्रतीति है कि मेरा ज्ञानस्वरूप समस्त परपदार्थों से और परभावों से हटा रहने का स्वभाव रखता है। यह स्वभाव कभी भी किसी विभाव या परपदार्थ में मिल नहीं सकता। ऐसे अछूता निर्लेप अबंध आत्मस्वभाव को निरखने वाला ज्ञानी पुरुष विभाव में व परपदार्थ में मुग्ध नहीं हो सकता। उसे तो कल्याणमय केवल अपना स्वरूप ही दृष्ट होता है।

पञ्चपरमेष्ठी की उपासना में ज्ञानी का मूल उद्देश्य—भैया ! पंचपरमेष्ठी की आराधना में यह ज्ञानी जीव आता है वहाँ भी इसका प्रयोजन आत्मस्वभाव का दर्शन है। वह परमेष्ठियों को ही आत्मविकास के रूप में समझता है। इन परमेष्ठियों में सर्वप्रथम साधु परमेष्ठी होता है। सर्व आरम्भ परिग्रह के त्याग से पहिले आत्मा में परमेष्ठित्व नहीं उत्पन्न होता है। ये ज्ञानी गृहस्थ जो भी साधु हैं वे पहिले घर में तो थे ही। पैदा तो जंगल में नहीं हुए। भले ही कोई बचपन से ही ८ वर्ष की ही उम्र से साधु बना हो पर था तो वह घर में ही। कोई साधु ऐसे भी हुए हैं कि जब से पैदा हुए तब से ही उन्होंने कपड़ा नहीं पहिना। हुआ क्या कि बचपन में ही उनके माता पिता ने किसी मुनि के साथ पढ़ने को रख दिया तो मुनि के संघ में भी नग्न रहते हुए बच्चे की शकल में पढ़ता रहा और पढ़ते ही पढ़ते छोटी उम्र में, मानों ८ वर्ष की उम्र में ही उसे बोध होता

है, सम्यक्त्व जगता है और संयम धारण कर लेता है तो उसने तो कपड़ा कभी भी नहीं पहिना । ऐसे भी साधु हुए हैं पर उत्पत्ति और सारा पालनपोषण तो प्रायः मनुष्यों का घर में ही होता है ।

साधुता का प्रारम्भ—गृहस्थ ज्ञानी पुरुष सम्यग्ज्ञान के जगने से जब विरक्त होता है तब आरम्भ परिग्रह का परित्याग करके साधु व्रत ग्रहण करता है । साधु का स्वरूप ऐसा है कि जो आत्मा को निरन्तर साधता रहे वह साधु है । साधु की वृत्ति, प्रवृत्ति मात्र आत्महित के लिए होती है । वह किन्हीं भी बाह्य परिकरों से प्रसन्न नहीं रहता । वह किन्हीं भी शिष्य आदिक की सेवा से अथवा भक्त श्रावक जनों से अपने में गौरव नहीं अनुभव करता । साधु तो निरन्तर आत्मतत्त्व के दर्शन किया करता है । ऐसे आत्मतत्त्व के साधक साधु पुरुष जब अनेक साधुओं द्वारा प्रमाणित और हितकारी माना जाता है तब किसी आचार्य के द्वारा दिए गए पद से या समस्त साधुओं द्वारा चुने गए की विधि से कोई आचार्य होता है । आचार्य परमेष्ठी भी इतने विरक्त होते हैं कि उनके द्वारा लोक में कल्याण भी हो जाता है और अपने स्वभाव की दृष्टि से चिगते नहीं ।

बहिर्मुखी वृत्ति में साधुता का अभाव—यदि कोई साधु लोककल्याण में ही लग जाये, शिष्य आदिक के संग्रह में ही लग जाये, बाहरी व्यवस्था में ही लग जाये और अपने हित की कोई वृत्ति न करे तब वहाँ आचार्यपरमेष्ठित्व तो दूर रहो सम्यक्त्व का भी संशय है । साधु उसे ही कहते हैं जो ज्ञायकस्वरूप निजआत्मतत्त्व की साधना में निरन्तर रत रहता हो । जिसे केवल एक ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप ही लक्ष्य में रहता है उसे साधु कहते हैं । कोई राग मोह में ग्रस्त हो और गृहस्थ भी इसी प्रकार ग्रस्त है, फिर उनमें परमेष्ठिता कहाँ आयी, पूज्यता कहाँ आयी?

असावधानी का फल दुर्निवार विपत्तियाँ—ज्ञानी गृहस्थ चूँकि यह जानता है कि रागद्वेष मोह ही विपत्ति है, संकट है । और आज के समय में चूँकि हम मनुष्य हैं इसलिए संकटों का कुछ निवारण भी कर लेते हैं, पर अन्य-अन्य गतियों के संकट तो देखो दुर्निवार संकट हैं । कीड़े मकोड़े, पेड़ पौधे, पशु पक्षी इन अनेक जीवों के संकट तो निहारो, ऐसे घोर संकट इस संसार में हैं । ये संकट बढ़ते हैं रागद्वेष मोह के कारण । भले ही वर्तमान समय में रागद्वेषमोह रुच रहा हो क्योंकि पर्यायबुद्धि है, घरवालों के मुख से प्रशंसा की बात सुनने में आ रही हो, विनयशील और आज्ञाकारी बन रहे हों, इनके शरीर की सुख साता में लग रहे हों, ये सब भले मालूम होते हैं पर अन्तर में कुछ रुच जाने का जो परिणाम बन रहा है, रागपरिणति हो रही है इससे ऐसे कर्मों का बंध हो रहा है जिसके फल में इसके संकट दुर्निवार हो जायेंगे ।

तीव्र मोह का फल—भैया ! एक किसी समय के तीव्र मोह के फल में ७० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति के कर्म बंध जाते हैं, दर्शन मोहनीय कर्म बंध जाते हैं । अर्थात् किसी समय में बँधे हुए कर्म ७० कोड़ाकोड़ी सागर तक अपना पिंड नहीं छोड़ते । सागर कितना कहलाता है उसको हम कल्पना से न जान सकेंगे । न तो वहाँ तक गिनती की पहुंच है, क्योंकि वह गिनती से परे है, असंख्यात काल कहलाता है । जिसकी गिनती नहीं वह अनन्तकाल कहलाता है । अनन्त का अर्थ है जिसका कभी अंत न हो अथवा अवधिज्ञानी जीव के अवधिज्ञान से दूर हो । सर्वोत्कृष्ट अवधिज्ञान सर्वावधिज्ञान भी जितनी संख्या को नहीं

जान सकता उसको भी अनन्त कहते हैं ।

सागर का प्रमाण—तो अब सागर को कल्पना के प्रमाण से सोचिये । मान लो, २ हजार कोस का लम्बा चौड़ा गहरा गड्ढा है और उसमें उत्तम भोगभूमि के ७ दिन के जाये हुए मेढ़ा के बच्चे के बाल कैंची से उतने छोटे टुकड़े करके जिनका दूसरा हिस्सा न हो ठसाठस भर दिये जायें । ऐसा न तो करना है और न कोई कर सकेगा, पर जो संख्या के हद से बाहर की बात है उसको बताने का उपाय केवल कल्पना हो सकती है । यह बात सर्वज्ञदेव की ज्ञानपरम्परा से चली आयी हुई है, यह मनमानी कल्पना नहीं है । उस खूब ठसाठस धसे और भरे हुए गड्ढे में से एक बाल १०० वर्ष में निकाला जाये, वे समस्त बाल के टुकड़े जितने वर्षों में निकल सकेंगे उतने वर्षों का नाम है व्यवहारपल्य । और व्यवहारपल्य से असंख्यात गुणा होता है उद्धारपल्य । और उद्धारपल्य से असंख्यात गुणा होता है अद्धापल्य । एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा किया जाये तो उसे कहते हैं एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य । ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य का एक सागर होता है । एक करोड़ सागर में एक करोड़ सागर का गुणा किया जाये तो कहलाता है एक कोड़ाकोड़ी सागर । ऐसे-ऐसे ७० कोड़ाकोड़ी सागर की स्थिति एक समय की खोटी भावना में बंध जाती है । इस कारण जीव को सदा सावधान बना रहना चाहिए ।

शुभ उपयोग—भैया ! अशुभ परिणामों से बचने के लिये व शुद्ध उपयोग की पात्रता के लिये अपनी प्रवृत्ति किसी न किसी धर्मकार्य में, पूजा में, सामायिक में, स्वाध्याय में, व्रत उपवास में, संयम की स्थिति में, सत्संग में व्यतीत करना चाहिए । इस पुण्यकर्म के समय इतना तो सुनिश्चित है कि विषय कषाय के अशुभ भाव नहीं होते हैं जिन अशुभ भावों के कारण तीव्र अनुराग बढ़ता है । पुण्यकार्य में लगे हुए भी दृष्टि अपने आत्मस्वरूप की रखना चाहिए । हम परमेष्ठियों को क्यों पूजते हैं? हम वहाँ शुद्ध स्वभाव का विकास देख रहे हैं । साधु, आचार्य और उपाध्याय—ये तीनों आत्मा के शुद्ध विकास के यत्न में लगे हैं । आजकल उपाध्यायों का मिलना बड़ा कठिन है । कहीं न सुना होगा कि फलाने मुनि उपाध्याय हैं । चाहे आचार्य जल्दी बन जाये पर उपाध्याय का बनना बड़ा कठिन हो रहा है, क्योंकि उपाध्याय बनने का मूल तो ज्ञान है । ज्ञान बिना उपाध्याय पद नहीं मिलता । केवल बातों के कहने से ही उपाध्याय पद हो नहीं पाता ।

परमात्मत्व—ये तीनों प्रकार के साधु जब आत्मस्वभाव में रत रहते हैं तो इनमें से किसी के भी, आजकल तो नहीं हो सकता, किन्तु पद के स्वरूप की बात कह रहे हैं कि जब स्वरूपाचरणचारित्र में उत्कृष्ट प्रवेश हो जाये, जहाँ ध्यान, ध्याता, ध्येय का विकल्प न हो, केवल शुद्ध ज्ञानमात्र, जो उदार है, धीर है, गम्भीर है ऐसे ज्ञानस्वरूप का ही उपयोग अभेदवृत्ति से रह जाये तो इस उत्कृष्ट अभेद आत्मस्वभाव के ध्यान के प्रसाद से चार घातिया कर्मों का क्षय हो जाता है । दर्शनमोहनीय का क्षय पहिले हो चुका था । चारित्र मोहनीय का क्षय क्रम-क्रम से होता है और शेष तीन कर्मों का क्षय एक साथ होता है । घातिया कर्मों का क्षय होने के बाद वह अरहंत प्रभु हो जाता है ।

वीतरागता का प्रताप—उनमें से जिन आत्माओं ने पूर्व काल में संसार के जीवों पर तीव्र दया बुद्धि की

और यह भावना की थी कि देखो ये संसार के प्राणी स्वयं तो ज्ञानानन्दस्वरूप वाले हैं, इनका स्वयं प्रभुता का स्वरूप है किन्तु एक अन्तर में दृष्टि भर नहीं दी जा रही है कि बाह्य पदार्थों की ओर इतनी वेगपूर्वक दृष्टि दौड़ गई है कि व्याकुल रहता है। इसे यह अन्तरदृष्टि प्राप्त हुई है, ऐसा परमकरुणा का परिणाम जिनके हुआ था, और तीर्थंकरप्रकृति का बंध किया था उन अरहंत देवों का समवशरण बनता है, बड़े इन्द्रदेव सब दास होकर, सेवक बनकर धर्मप्रभावना करते हैं। सो अरहंत परमेष्ठी का स्वरूप, समवशरण का स्वरूप जब आप ध्यान में लायें तो यह न भूलें कि यह सब वीतरागता का चमत्कार है।

समवशरण—अहो ! कैसी अपूर्व समवशरण की रचना है? पृथ्वीतल से कुछ कम ५ हजार धनुष ऊपर से ये सब रचनाएँ चलती हैं। भगवान ५ हजार धनुष ऊपर विराजमान रहते हैं। चारों ओर से रम्य पहाड़िया बनी हुई हैं। जमीन पर समवशरण कैसे बने, पर्वत हैं, नदी है, नगर हैं, ये कहाँ हटा दिये जायें? कहाँ मिलेगा ऐसा मैदान जहाँ १२ कोस तक मैदान ही मैदान पड़ा हो। जरा कठिन हो जाता है। ऐसी प्रकृत्या रचनाएँ चलती हैं, बुद्धियाँ चलती हैं। इस पृथ्वी तल से ५ हजार धनुष उपर ये समस्त रचनाएँ है। सीढ़ियों से ऊपर जाकर मानस्तम्भ है। मानियों का मान उस अद्भुत रचना को देखकर गल जाता है। आगे बढ़ते जाते हैं तो गोलाकार में पहिले किला जैसा, फिर खातिका, फिर वेदिका, फिर ध्वजा इस तरह अनेक अद्भुत रचनाएँ चलती जा रही हैं। जब अन्दर के गोल में पहुँचते हैं तो वहाँ १२ सभाएँ हैं। एक-एक दिशा में तीन-तीन सभायें बनी हुई हैं। एक बड़ी स्फटिक की वेदिका है, उसके अन्दर गंधकुटी विराजमान है जिस पर भगवान विराजे हैं, चारों ओर से देवी देवता मस्त होकर भक्ति से ओतप्रोत बड़े आह्लाद से गानतान करते चले आ रहे हैं। अहो, इतना अद्भुत चमत्कार, यह किसका प्रताप है? यह वीतरागता का प्रताप है।

निःकांक्षिता की पूजा और विकास—एक आत्मा जो कुछ नहीं चाह रहा है, जिसने एक शुद्ध स्वभाव का अवलम्बन किया था, जिसके फल में ऐसा सहज पूर्ण विकास है कि तीनलोक तीन काल के समस्त पदार्थ स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ऐसे सर्वज्ञ वीतराग प्रभु की सेवा में मनुष्य क्या, बड़े-बड़े तिर्यञ्च क्या, देव देवियाँ सभी एक साथ आ रहे हैं। यह सब वीतरागता का प्रभाव है। आनन्द वीतरागता में ही है। शुद्ध विकास वीतरागता में ही है। जगत के जीवों को जितना भी क्लेश है वह सब राग का क्लेश है। इस जगत के जीव में यदि किसी चीज का राग न रहे तो फिर उसे क्लेश ही किस बात का है? इन जीवों को जितने भी क्लेश प्राप्त हो रहे हैं वे सब राग के ही कारण प्राप्त हो रहे हैं। और इस राग से भी अधिक महान् क्लेश है मोह का। अरहंत परमेष्ठी बहुत समय पर्यन्त जब तक उनकी आयु के थोड़े ही दिन बाकी नहीं रहते हैं तब तक उनके द्वारा धर्मोपदेश विहार आदि हो रहे हैं। वे प्रभु अंत में योग निरोध करते हैं। पहिले तो लोगों को दिखने वाले योग रुक जाते हैं, जैसे विहार करना आदि दिव्यध्वनि होना। पश्चात् जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है एक अन्तर्मुहूर्त में अनेक अन्तर्मुहूर्त होते हैं। तब उनके मन का निरोध अर्थात् जो द्रव्य मनोयोग था उसका निरोध, वचन का निरोध, श्वासोच्छ्वास निरोध हुआ, स्थूलकाय योग का निरोध – ये सब निरोध होकर अंत में अयोगकेवली बनकर पंच ह्रस्व अक्षरों के बोलने में जितना समय लगता है उतने ही मात्र समय में

अयोगकेवली गुणस्थान में रहकर वे मुक्त हो जाते हैं ।

आत्मा का चरम विकास व उसकी भक्ति में कर्तव्य—अब चार अघातिया कर्मों से वे मुक्त हो गए, शरीर से वे मुक्त हो गए । अब धर्म आदिक द्रव्यों की तरह सर्व प्रकार से शुद्ध वे आत्मदेव हो जाते हैं । वे सिद्ध परमेष्ठी हैं । इनका ध्यान ज्ञानी पुरुष शुद्धस्वभाव के नाते से कर रहा है । पंचपरमेष्ठियों की पूजा आत्मविकास के नाते से की जा रही है । आत्मविकास ही उपादेय है ऐसा जानकर जहाँ आत्मविकास मिलता है ज्ञानी पुरुष के वहाँ ही प्रीति उत्पन्न होती है और उस ज्ञानविकास, आत्मविकास की प्रीति में ही ये सब प्रवृत्तियां चलती हैं । अतः हमें अपना लक्ष्य योग्य बनाना है । शुभोपयोग से हटने के लिए हम शुद्धोपयोग के कार्यों में अधिकाधिक लगे । और दृष्टि के लक्ष्य में शुद्धस्वरूप के विकास का भाव बनाये, चाहे वह कभी भी हो । लक्ष्य तो अभी से बना लेना चाहिए । यों ज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्मा की भावना में जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्द से तृप्त होकर संसार सुख की इच्छा नहीं करता है ।

सम्यक्त्वोन्मुख आत्मा की विशुद्धि एवं लब्धियां—भैया ! सम्यक्त्व के परिणाम का तो महत्त्व ही क्या कहा जाये, कैसे कहा जा सकेगा जबकि सम्यक्त्व के उन्मुख होने वाले जीव के परिणाम में ही इतनी बड़ी महिमा है कि उस अभिमुखता में ही कितनी प्रकृतियों का बंध रोक लेता है, जो ५वें, ६वें, ७वें गुणस्थान में बंध सकती हैं । कुछ प्रकृतियाँ ऐसी हैं जो छठे गुणस्थान तक भी बंधती है उनका बंध मिथ्यादृष्टि जीव जो सम्यक्त्व के अभिमुख हो रहा है उसके रुक जाता है । गुणस्थान के हिसाब से उन्हें सम्वर नहीं कहा गया, किन्तु सम्यग्दर्शन के अभिमुख जो जीव है उसके कितनी ही प्रकृतियां बंधने से रुक जाती है । सम्यग्दर्शन ५ लब्धियों के बाद उत्पन्न होता है—पहली क्षयोपशमलब्धि, दूसरी विशुद्धिलब्धि, तीसरी देशनालब्धि, चौथी प्रायोग्यलब्धि, पांचवीं करणलब्धि । क्षयोपशमलब्धि में इस जीव के साथ जो कर्म बँधे हुए है उन कर्मों में क्षयोपशम विशेष होने लगता है, जिस क्षयोपशम के फल में इस जीव में विशुद्धि आने लगती है । जिस विशुद्धि से बढ़कर यह जीव इतना पवित्र बनता है कि उसमें दूसरे के तत्त्व के ग्रहण करने की शक्ति आ जाती है । उपदेश ग्रहण करने की शक्ति आना इसे देशनालब्धि कहते हैं । अब वर्तमान में देखो तो तीन लब्धियों के पाने की सभी के योग्यता है । कर्मों का इतना क्षयोपशम है कि जो निगोद पर्याय से निकलकर, स्थावरों से निकलकर, विकलत्रिकों से निकलकर संज्ञी पंचेन्द्रिय हुए और संज्ञी पंचेन्द्रिय में भी मनुष्य हुए ।

मनुष्यगति की विशिष्टता—सब गतियों से बड़ी विशेषता मनुष्य में होती है । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की पूर्णता इस गति में ही हो सकती है । मन की स्थिरता मनुष्यगति में ही होती है । देवगति के जीव भी सम्यग्दृष्टि होते हैं, ज्ञानी होते हैं, किन्तु उनके चित्त में स्थिरता नहीं होती है। चित्त स्थिर रख सकने की योग्यता मनुष्य में है । कारण यह है कि संसार में जिसको जितनी सुविधा, सिद्धि ऋद्धि प्राप्त होती है उसके चित्त में प्रायः स्थिरता कम होती है । कहते तो लोग यह है कि भाई कुछ साधन अच्छा जुट जाये तो चित्त स्थिर हो जाये । इतनी सम्पत्ति हो जाये कि किराये भाड़े से अपना काम चलने लगे तो चित्त स्थिर हो जाये । बैठे-बैठे रहें, आरम्भ कुछ न करना पड़े, फिर तो खूब धर्म करेंगे पर जैसे ही उस लक्ष्मी की

शकल सूरत सामने खूब आ जाती है तो इसका चित्त अस्थिर हो जाता है । न कुछ परिकर हो उस स्थिति में यह अपने चित्त को स्थिर बना सकता है पर जहाँ सम्पत्ति इसको प्राप्त होती है, सम्पत्ति बढ़ जाती है वैसे ही चित्त में अस्थिरता बढ़ जाती है । प्रायः देखो धर्म के भक्त कितने लोग हैं? धर्म की तरफ थोड़ा लोगों को ख्याल भी कम है । आप देख लीजिए कि धर्म करने वालों की संख्या कितनी है? सारे देश में दृष्टि डाल लो और कोई खेल खिलौना, सिनेमा आदि होने लगे तो कितनी संख्या जुड़ सकती है? कितना उपयोग और उत्साह जगता है? तो क्या कारण है कि सर्व प्रकार की पात्रता भी है और फिर भी स्थिरता नहीं होती है । देवगति के जीवों में चित्त में स्थिरता नहीं है इसलिए वे संयम के पात्र नहीं होते हैं । उनको भूख नहीं लगती, प्यास नहीं लगती । हजारों लाखों वर्षों में यदि भूख प्यास लगी भी तो उनके कंठ से अमृत झर जाता है किन्तु यत्न नहीं करना पड़ता है । कितनी सुविधा है उनको? इतनी सुविधा में भी देव गति के जीव स्थिर नहीं रह पाते हैं । उनका चित्त डोलता रहता है । तो वैभव सम्पन्न होने से चित्त स्थिर होगा ऐसा भ्रम है । ज्ञानबल होगा तो चित्त स्थिर होगा, सम्पन्नता से चित्त स्थिर न होगा । चारों गतियों के जीवों में खूब परख लो मनुष्य का कितना उत्कृष्ट जीवन है?

उत्कृष्ट अवसर से लाभ न उठाने का खेद—इतना उत्कृष्ट जीवन पाकर भी हम अपने सहजस्वरूप की दृष्टि में नहीं लगते, जिसके आलम्बन से मोह रागद्वेष दूर होते हैं । जो यत्न, पुरुषार्थ पुराणपुरुषों ने किया है और वे परमात्मा हुए हैं उस शुद्ध सहज स्वरूप का हम दर्शन नहीं करें उसकी उत्सुकता न जगायें और बाह्य पदार्थों में ही दृष्टि फंसाकर अपना समय गुजारें तो कहना होगा कि जैसे लोक में अनन्त भव गुजारे इसी प्रकार यह भी भव गुजार दिया । कमजोरी तो अपने आपकी है किन्तु यह कमजोरी अपने आपका स्वभाव तो नहीं है, यह नैमित्तिक चीज है । जो औपाधिक, नैमित्तिक मायामय होता है वह दूर हो सकता है और जो स्वभावरूप होता है वह दूर नहीं होता है ।

स्वभावदर्शन का प्रकाश—स्वभावदर्शन करने वाले ज्ञानी पुरुष की लीला अकथनीय है । वह ज्ञानी पुरुष किसी भी कथन में अपने स्वरूपदर्शन का प्रयोजन निकाल लेता है । शब्द वे ही हैं पर जिसकी जैसी योग्यता है वह अपनी योग्यता से उसमें वैसा ही अर्थ निकाल लेता है । एक बच्चा बारह भावना का कोई दोहा पड़े, उस दोहा को सुनकर किसी के चित्त में तो वैराग्य बढ़ा, किसी के चित्त में स्वरूपदृष्टि जगी और कोई इतना ही जानकर अपना उपयोग कर लेता कि यह पढ़ रहा है, इसने अच्छा याद किया है । बात वही है और उसको सुनकर जिसकी जितनी योग्यता है वह अपनी योग्यता माफिक उसमें अर्थ देख लेता है । तो ज्ञानी पुरुष व्यवहारनय से यों देखता है कि ये रागादिक पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होते हैं । ये स्वभाव भाव नहीं हैं तो इस कथन में उसे स्वरूपदर्शन की उत्सुकता जगती है । वह खिंचता किस ओर है? स्वभाव की ओर । जैसे एक गृहस्थ का लड़का और एक पड़ोस का लड़का दोनों में कुछ कलह हो तो न्याय-नीति की बात कहकर वह झुकता है जिसमें अपनी रुचि हो इसी प्रकार स्वभाव और विभाव के कथन में भी सारी दृष्टियों का वर्णन करते हुए भी झुकता किस ओर है? जो अपना अनादि अनन्त स्वभाव है उस ओर झुकता

है ।

प्रायोग्यलब्धि में विशुद्धि—यह जीव जब सम्यग्दर्शन के अभिमुख होता है तब उस समय के ही विशुद्ध परिणाम का हम वर्णन करने में असमर्थ होते हैं तो सम्यग्दर्शन के परिणाम का तो वर्णन ही कौन कर सकेगा? जिन प्रकृतियों का बंध छठे गुणस्थान तक भी चल सकता है उन प्रकृतियों का बंध यह मिथ्यादृष्टि जीव जो सम्यक्त्व के अभिमुख है वह रोक लेता है । जिस समय कर्मों के अंतःकोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध होने लगता है तब जीव सम्यक्त्व के अभिमुख हो सकता है । कोई हो अथवा न हो, यह स्थिति एक कोड़ाकोड़ी सागर से बहुत नीचे है । यह परिस्थिति प्रायोग्यलब्धि के प्रारंभ में है ।

मिथ्यादृष्टि की इस विशुद्धि में आयुबंध का निरोध—अब सम्यग्दर्शन के अभिमुख जीव के परिणामों का प्रताप देखिए । अंतःकोड़ाकोड़ी सागर स्थितिबंध करने वाला जीव विशुद्ध परिणामों में बढ़कर जब सात आठ सौ सागर कम स्थितिबंध करने लगता है तब वह नरक आयु का भी बंध नहीं कर सकता है । इतनी विशुद्धि इस मिथ्यादृष्टि जीव के हुई । जो सम्यक्त्व के अभिमुख जैसी स्थिति में है, चाहे आगे सम्यक्त्व हो अथवा न हो, यह बंध पहिले कम हो-हो करके कितनी ही देर बाद सैकड़ों सागर की कम स्थिति होती है, फिर इसी तरह कम होता हुआ जब सात आठ सौ सागर और कम स्थितिबंध होने लगता है तब इसके इतनी विशुद्धि बढ़ती है कि तिर्यञ्च आयु का बंध नहीं होता है । और सात आठ सौ सागर कम बंध होने पर मनुष्य आयु का बंध नहीं होता है । सात आठ सौ सागर और कम होने पर देव आयु का बंध नहीं होता है । इसे कहते हैं पृथक्त्व शत सागर में होने वाला प्रकृति-बंधापसरण ।

विशुद्धि के प्रताप में और वृद्धि—इतना ही नहीं, और कम बंध होने पर नरकगति नरकगत्यानुपूर्वी का बंध नहीं हो सकता है । आगे यह दिखाया गया है कि ऐसी भी प्रकृतियां हैं जो छठे गुणस्थान में बंध जाती हैं, पर उस मिथ्यादृष्टि के नहीं बंधती है जो थोड़े समय के सम्यक्त्व के अभिमुख हो रहा है । बाद में सम्यग्दर्शन होने के बाद वे प्रकृतियाँ चाहे बंधने लगे, मगर विशुद्धि का प्रताप तो देखिये कि मिथ्यादृष्टि जीव के कितनी प्रकृतियों का बंध रुक जाता है । इसके बाद जब सात आठ सौ सागर और कम स्थितियों का बंध होने लगता है तो सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण—इन तीनों का एक साथ बंध रुक जाता है । याने त्रिक का युगपत् बंध नहीं होता । जब सात आठ सौ सागर और कम स्थितिबन्ध हो जाता है तब सूक्ष्म, अपर्याप्त, प्रत्येक इस त्रिक का बंध नहीं होता है । इसी तरह चलते जाइए, फिर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय अनुत्कृष्ट संहनन और संस्थान और अंत में अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक, जिनका छठे गुणस्थान में तो बंध होता है इनका भी बंध उस सम्यग्दर्शन के अभिमुख होने के समय में नहीं होता है । यह सब प्रायोग्यलब्धि की बात कह रहे हैं । इतनी विशेष योग्यता इस चौथी लब्धि में हो जाती है ।

सम्यक्त्व प्राप्ति में करणलब्धि की साधकतमता—इतना काम हो चुकने के बाद भी करणलब्धि प्राप्त न हो तो सम्यक्त्व नहीं होता है । करण तीन हैं—अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण । तो यह समझिये

कि निर्मलता में बढ़ने के ये तीन परिणाम हैं। कोई जीव जब निर्मलता में बढ़ता है तब उसके बढ़ाव में ये तीन तरह की स्थितियां होती हैं। पहिले बढ़ाव में ऊपर के समय के परिणाम नीचे से मिल जायें, दूसरे बढ़ाव में ऊपर के समय के परिणाम नीचे तो न मिलें, पर बराबरी के समय वालों में मिल भी जायें, न भी मिलें। और तीसरे बढ़ाव में एक समय वाले के एक सदृश ही परिणाम होते हैं। ये बढ़ने में तीन बातें आती ही हैं। पूरी सावधानी तीसरी बार में होती है। व्यवहार में भी तो किसी काम को करने के लिए तीन मौके दिए जाते हैं। जब स्कूलों में खेल कूद दौड़ धूप आदिक प्रतियोगिताएं होती हैं तो उन्हें वन टू श्री कहकर कार्य शुरू कराते हैं। सावधानी के ये तीन अवसर हैं।

सावधानी के अवसरों का एक दृष्टान्त—जैसे बहुत से सिपाही लोग अपनी मौज में बैठे हुए हैं, कमाण्डर ने उन्हें बुलाया तो उसके पास सब सिपाहियों को लेफ्ट राइट की विधि से एक लाइन में पहुंचना चाहिए। अभी गप्प-सप्प कर रहे हैं, सो कमाण्डर के पास जाने में उनके तीन यत्न होते हैं। पहिले यत्न में वे झट लाइन बनाते हैं, सो कुछ लाइन बनी कुछ न बनी। उनमें कुछ पीछे हैं, कुछ आगे हैं। दूसरे सावधानी में लाइन तो ठीक हो गई पर अभी लेफ्ट-राइट के कदम ठीक नहीं हुए। तीसरी सावधानी में अब सब लेफ्ट राइट की हालत में हो गए। तीसरे यत्न में एकदम से उनमें समानता हो जाती है। उन सब के हाथ और पैर दोनों एक साथ उठ रहे हैं। ऐसे ही निर्मलता में बढ़ रहे इस सम्यक्त्व के अभिमुखी जीव को ये तीन परिणाम होते हैं। इन तीनों परिणामों के हो चुकने पर अंत में प्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है।

स्वभावानुभूतिपूर्वक सम्यक्त्व की जागृति—भैया ! सम्यक्त्व जब जगता है तब स्वरूप का अनुभव करता हुआ जगता है, और निजस्वभाव के अनुभव में उत्पन्न हुए आनन्दरस से तृप्त होता हुआ जगता है। पीछे चाहे उपयोग स्वभाव पर न रहे, कषाय विपाक में प्रवृत्तियां होने लगे, लेकिन लब्धिरूप में वह सब ज्ञान बना रहता है। ऐसा विशुद्ध परिणामी सम्यग्दृष्टि जीव जिसने आत्मीय आनन्दरस का स्वाद लिया है वह वैषयिक सुख में आदर बुद्धि कैसे करेगा? यह विकार पिशाच है। पंचेन्द्रिय के विषय सम्बंधी विचार विकल्प इस जीव को भुलावे में डाल देते हैं। तो विकल्पों में यह जीव विषयों में भोगों में प्रवृत्त होता है। आसक्ति हुई तो यह जीव हित-अहित कुछ नहीं गिनता है, किन्तु जिसकी दृष्टि विशुद्ध है, स्वभाव में दृष्टि है, ज्ञान है और सहज वैराग्य है ऐसे जीव को विषयों के सुख में प्रेम नहीं उत्पन्न होता है। ये इन्द्रियविषय बहुत धोखे से भरपूर हैं, स्वभावदृष्टि के बाधक हैं। विषय यद्यपि कषाय के ही रूप हैं पर कषाय से भी अधिक धोखे वाला समझकर कषाय से पहिले विषय शब्द लगा देते हैं। “आत्मा के अहित विषय-कषाय”।

इन्द्रियविषय से अनर्थ—अहो! एक-एक इन्द्रिय के वश में होकर जीव अपने प्राण गंवा डालता है, बहुत-सी प्रसिद्ध बातें हैं। स्पर्शन इन्द्रिय के वश में होकर हाथी जैसा बड़ा जानवर जिसमें इतना बल है कि सिंह को भी पकड़कर दो टूक कर दे। सिंह में फुर्ती है इस कारण हाथी पर विजय कर लेता है पर बल देखा जाये तो हाथी में बल अधिक होगा। ऐसा बलवान जानवर भी स्पर्शन इन्द्रिय के वश में होकर बंधन में होता है। पकड़ने वाले लोग हाथी को इसी तरह पकड़ते हैं कि एक बड़ा गड्ढा खोदा, उसके ऊपर पतले बाँस

बिछा दिये और ऊपर बहुत सुन्दर रंगों से रंगकर एक हथिनी बनाते हैं और होशियार पकड़ने वाले हुए तो एक हाथी और बना देते हैं एक या दो फर्लांग दूर पर । उस हाथी को दौड़ने की शकल वाला बना देते हैं । जंगल का हाथी उस हथिनी को देखकर मोहित हो जाता है और उस हाथी को देखकर द्वेष भी करता है कि यह हाथी दौड़कर आ रहा है । यह न आ सके, मैं पहिले पहुंचूं । इसमें देखो—जंगल के हाथी में मोह, राग और द्वेष तीनों परिणतियां चल रही हैं । मोह तो यही है अज्ञान । यथार्थ स्वरूप का पता न रहा क्योंकि विषयों में आसक्ति है । कुछ भी विचार कर सकने का उसके अवसर नहीं है । कहीं गड़ढा है या नहीं, जान आफत में आ जायेगा कि नहीं, यह कुछ विवेक नहीं रहता है । सोचने का अवसर ही नहीं रहता है क्योंकि कामवासना की वृत्ति इतनी है कि उसे अन्य बातें नहीं सुहाती है । यह तो हुआ मोह । और हथिनी के रूप में राग हुआ, और दूसरा हाथी उसके पास पहिले न जा सके यह उसका द्वेष हुआ । सो राग द्वेष मोह के वश में होकर वह हाथी उस गड़ढे पर पहुंचता है, बाँस टूट जाते हैं और वह गिर जाता है । कई दिन तक उसे भूखा रखा जाता है । फिर रास्ता बनाकर उसे निकाल लिया जाता है और अपने वश में कर लिया जाता है या भूखे ही वह हाथी अपने प्राण गंवा देता है ।

रसना आदिक इन्द्रियों से अनर्थ—रसना इन्द्रिय के वश में मछली का दृष्टांत बड़ा प्रसिद्ध है । शिकारी लोग जाल में कुछ खाने की चीज, मांस जैसी चीज या जीव जन्तु लगाकर जल में डाल देता है । उसमें कांटा तो लगा ही रहता है । उसको वह मछली खा लेती है, वह कांटा उसके गले में फंस जाता है और वह मछली अपने प्राण गंवा देती है । भंवरा गंध में आसक्त होकर कमल के फूल में छिप जाता है, जिस भंवरे में इतनी शक्ति है कि वह काठ को भी छेद भेद करके निकल जाता है पर गंध में आसक्त होने के कारण कमल के फूल को भी वह छेद भेद नहीं सकता है और उस कमल के फूल में छिपकर वह भंवरा अपने प्राण गंवा देता है । दीपक पर बैठकर पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं । यद्यपि वे दूसरे पतंगों को देखते हैं कि मर रहे हैं पर चक्षुरिन्द्रिय के वशीभूत होकर वे पतंगे अपने प्राण गंवा देते हैं । हिरण, सांप ये संगीत के वश में होकर शिकारी के फंदे में पड़ जाते हैं ।

विषयों के अनर्थ के परिज्ञान से शिक्षा—एक एक इन्द्रिय का विषय भी विनाश के लिए हो रहा है । तो अज्ञानी मनुष्य की तो कहानी देखो कि कौन-से विषयों में यह कमी कर रहा है या गम खाता है? सर्व इन्द्रियों में व्यर्थ की इन्द्रिय है नाक । इस तक का भी तो ये जीव बड़ा ख्याल रखते हैं । इत्र चाहिए, फुवा लगाना चाहिए, नाक में लगाना चाहिए । कैसा इन्द्रिय के वश में है यह जीव कि उसे अपनी स्वभावदृष्टि का कुछ श्रद्धान ही नहीं होता है । और स्वभावदृष्टि के बिना इस जीव को शांति नहीं मिल सकती । अतः हमें ज्ञान, ध्यान आदि समस्त प्रवृत्तियों से अपनी स्वभावसाधना के लिए यत्न करना और इसके लिए उत्सुक रहना चाहिए ।

अब अष्ट अंग के प्रकरण में तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है, उसका यहाँ वर्णन किया जाता है ।

गाथा २३१

जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।

सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३१॥

निर्जुगुप्सक सम्यग्दृष्टि—जो जीव सभी धर्मों में ग्लानि को नहीं करता है वह निश्चय से निर्विचिकित्सा दोषरहित सम्यग्दृष्टि है, ऐसा मानना चाहिए । जुगुप्सा का अर्थ है निन्दा, दोष ग्रहण करना, ग्लानि करना, इन सब बातों को सम्यग्दृष्टि नहीं करता है । सम्यग्दृष्टि को परमात्मतत्त्व की भावना का महान् बल प्रकट हुआ है और उस भावना के फल में उसने यह अनुभव किया है कि सर्व जीवों में सार, सर्वस्वभूत यह चैतन्यस्वभाव एकस्वरूप है । यहाँ अर्थात् स्वभावदृष्टि में स्वरूप की समानता कहते हैं कि उसमें हीनाधिकता नहीं है ।

जाति की अपेक्षा जीवों की एकता—यदि जीव के स्वभाव में हीनाधिकता होती तो द्रव्य ६ न कहे जाकर ७ कहे जाते, अनेक कहे जाते । यद्यपि द्रव्य अनन्त है, ६ नहीं हैं । क्योंकि उस एक का लक्षण है, जितना परिणमन एक पूरे में होना ही पड़ता है, जिससे बाहर कभी नहीं होता है उसको एक द्रव्य कहते हैं । जैसे जीव का ज्ञानपरिणमन है, जाननपरिणमन, आनन्दपरिणमन या विकार अवस्था में रागद्वेषादिकरूप परिणमन, सुख दुःख आदिक परिणमन ये जीव के जितने पूरे में होते हैं उतने को एक कहते हैं । कोई विवक्षित सुख दुःख किसी अन्य जीव में नहीं होता है । जिसका सुख दुःख परिणमन है उसका उस ही में होता है और उसके पूरे जितने में वह विशेषता है उतने में होता है । जीव का ज्ञानपरिणमन आधे प्रदेशों में हो और आधे में न हो ऐसा नहीं है । एक परिणमन जितने में होना ही पड़ता है उसको एक कहते हैं । यों अनन्ते जीव हैं, पुद्गल अनन्ते हैं और भी द्रव्य हैं । तो भी उनको जाति अपेक्षा से ६ प्रकार के कहे हैं ।

एक के स्वरूप पर बांस का दृष्टान्त—इसके लिए मोटा दृष्टान्त बांस का बताया है । दृष्टान्त तो दृष्टान्त ही होता है । बाँस भी एक द्रव्य नहीं है । वह अनन्त पुद्गल परमाणु द्रव्य का स्कंध है, फिर भी एक व्यावहारिक दृष्टान्त है । और एक दृष्टान्त से उसमें दृष्टान्त घटाया है कि जैसे बांस पड़ा है उसका एक छोर हिले तो सारा बांस हिल जाता है क्योंकि वह एक है । बांस से चौकी अलग है तो बांस के हिलने से चौकी नहीं हिलती है । एक वह कहलाता है कि कोई गुण परिणमन जितने में होना ही पड़ता है । इस दृष्टि से जगत में जीव अनन्त हैं, और जीवों से अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य हैं ।

जीव से अनन्तगुणे पुद्गलों की सिद्धि—एक-एक संसारी जीव के साथ अनन्त पुद्गलद्रव्य लगे हैं, मुक्त जीवों के साथ नहीं लगे हैं । पर मुक्त जीवों से अनन्तगुणे संसारी जीव है । एक जीव के साथ अनन्त पुद्गल लगे हैं । प्रथम तो उसके साथ जो शरीर लगा है वह शरीर ही अनन्त पुद्गलों का प्रचय है । पर उस शरीर के साथ शरीर के ही विस्रसोपचयरूप परमाणु लगे हैं । वे भी अनन्त हैं । इस जीव के साथ कर्म भी बद्ध हैं वे ज्ञानावरणादिक भी अनन्त हैं और विस्रसोपचय रूप कार्माणवर्गणाएँ भी लगी हैं, वे भी अनन्त हैं । तैजस शरीर है, तैजस वर्गणाएँ हैं वे भी अनन्त हैं । तो एक जीव के साथ अनन्त पुद्गल प्रथम लगे हुए हैं

और अनन्त जीव हैं तो पुद्गल द्रव्य का समूह तो जीव से भी अनन्तगुणा है ।

व्यक्ति से अनेकता व जाति से एकता का परिचय होने पर निर्जुगप्सा का अभ्युदय—जीव पुद्गल के अतिरिक्त और भी द्रव्य हैं धर्म, अधर्म, आकाश भी एक-एक द्रव्य हैं । काल असंख्यात द्रव्य है । यों समस्त द्रव्य अनन्त हैं । किन्तु उन सर्वद्रव्यों को जाति की अपेक्षा संक्षिप्त किया जाये, जाति में सम्मिलित किया जाये तो वे सब द्रव्य ६ जाति के होते हैं । जाति जो बताई जाये उसमें न एक छूटना चाहिए और न भिन्न जाति का एक भी मिलना चाहिए वह जाति का लक्षण है । तो जीव जाति से जो लक्षित किया गया है वह स्वरूप सब जीवों में हीनाधिकता से रहित एक समान होना चाहिए । यदि एक जीव का दूसरे जीव में लक्षण दृष्टि से रंच भी अंतर होता है तो उनकी जाति अलग-अलग हो जाती है । इस तरह जीव-जीव सब असाधारण चैतन्यस्वरूप की दृष्टि से एक समान हैं । उनमें रंच भी अन्तर नहीं है । जीव की ऐसी स्वरूप महिमा को जानने वाला तत्त्वज्ञानी पुरुष उनमें निर्विचिकित्सा, निन्दा, घृणा का परिणाम नहीं करता है । अथवा अपने आपमें ही उत्पन्न होने वाले विकार परिणामों में वह खेदरूप निर्विचिकित्सा नहीं करता है अर्थात् उनके भी एक विकारी भाव है इस प्रकार जानता है पर उसके कारण उद्विग्न नहीं होता है । परिस्थिति है, औपाधिकभाव है, अथवा क्षुधा आदिक कोई वेदना हो जाये तो उन वेदनाओं में भी अपने को मलिन नहीं बनाता । उनका ज्ञाता द्रष्टा रहता है । अथवा उस समय में भी अपनी सावधानी को नहीं खोता है । व्यवहारदृष्टि से जो ऐसे साधु संत जन हैं, रत्नत्रय की मूर्ति हैं, ऐसे पुरुषों में ग्लानि, जुगुप्सा, निन्दा आदि भावों को नहीं करते हैं ।

निर्विचिकित्सित अङ्ग पर एक दृष्टान्त का भाषण—निर्विचिकित्सा अंग का एक कथानक बहुत प्रचलित है । स्वर्ग में सभा में चर्चा हुई निर्विचिकित्सा अंग के प्रति कि भूलोक में राजा उद्दायन अति प्रसिद्ध है । धर्मात्मा पुरुषों को देखकर, उनके मलिन रुग्ण शरीर को देखकर राजा उद्दायन ग्लानि नहीं करता है । जैसे माँ अपने बच्चे की किसी भी प्रकार की सेवा में ग्लानि नहीं करती । वह बच्चा माँ के कपड़ों में मल भी कर दे, मूत्र भी कर दे, इतनी तरह की झंझटों में भी माँ अपने बच्चे से ग्लानि नहीं करती । इसी प्रकार जो धर्मरुचिया पुरुष हैं वे धर्मात्मा जनों की सेवा में रत रहते हैं, उनकी सेवा में ग्लानि का परिणाम नहीं करते, घृणा नहीं करते । कोई यदि किसी धर्मात्मा से घृणा करे या अंतर में ईर्ष्या द्वेष रखे तो ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टि में नहीं हो सकती है । जिसके पर्यायबुद्धि है, अपनी वर्तमान परिस्थिति में अहंकार है, तत्त्व से अपरिचित है ऐसा पर्याय व्यामोही जीव ही दूसरे को तुच्छ गिनने का और इसी कारण द्वेष से निहारने की बुद्धि रखने का यत्न करता है, व्यसन रखता है । तत्त्वज्ञानी पुरुष धर्मात्मा जनों में निर्विचिकित्सा, निन्दा, घृणा, ग्लानि को नहीं करता है ।

देव द्वारा उद्दायन राजा की परीक्षा—ऐसा व्याख्यान सुनकर एक देव के मन में ऐसा आया कि हम जाकर परीक्षा करें कि उद्दायन राजा किस प्रकार निर्विचिकित्सा अंग को पालता है । आया वह भूलोक में । बना लिया कोई भेष । तो साधु का भेष बनाया देव ने और चर्या के लिए चला मुद्रा सहित । उद्दायन राजा

ने जब देखा कि साधु महाराज आ रहे हैं तो बड़ी भक्ति से पड़गाहा, भोजन कराया। देव भोजन नहीं करते, पर मायामय उनकी पर्याय जो होती है वह नाना प्रकार की बन जाती है। कैसा ही रूप रख लें, पत्थर, पहाड़ जैसे दृश्य भी बना लें। तो भोजन करने के बाद देव ने वहीं वमन कर दिया। सो वमन भी बड़ी दुर्गंधित चीज होती है। उसके बाद भी उद्दायन राजा व उनकी रानी दोनों बड़ी भक्ति से उनकी सेवा में लगे हैं। ग्लानि नहीं करते हैं, वे अपने ही कर्मों का दोष देते हैं। कैसा मेरा उदय आया कि इन्हें यहाँ पर ऐसी तकलीफ हो गई। वे राजा और रानी अपने विनय में, धर्मबुद्धि में अन्तर नहीं डाल रहे हैं। कुछ ही समय बाद वह देव वास्तविक देव रूप में प्रकट होकर राजा उद्दायन की स्तुति करने लगा। धन्य हो तुम। जैसा सुना था, जैसा जिनधर्मी को होना चाहिए वैसा ही स्वरूप आपका मिला। ऐसा कहकर देव प्रणाम करके चला गया।

भैया ! प्रथम तो किसी जीव से भी घृणा नहीं होनी चाहिए। पर जो जिनशासन की सेवा में लगे हुए हों ऐसे पुरुषों के प्रति भी अर्थात् धर्मसाधक पुरुषों के प्रति भी कोई यदि ईर्ष्या, द्वेष, विचिकित्सा, ग्लानि रखता है तो उसे स्वयं यह अपनी कमजोरी सोचना चाहिए कि मेरे तत्त्व की स्फूर्ति नहीं हुई है, मलिन परिणामों में ही बसकर हम बंध कर रहे हैं। परमात्मतत्त्व की भावना के बल से ज्ञानी जीव सर्व ही धर्मों में जुगुप्सा को नहीं करते हैं। वस्तुस्वभाव में विभाव में प्रत्येक जीव में विचिकित्सा ग्लानि को नहीं करते हैं। और जिसकी ऐसी निर्विचिकित्सा रूप प्रवृत्ति होती है वह धर्मात्मा के प्रसंग में मल मूत्र आदि से तो ग्लानि करता ही नहीं, पर ऐसी भी एक साधारण वृत्ति हो जाती है कि किसी भी जगह हो, जा रहे हो, कोई गंदी चीज पड़ी हो तो उस समय भी नाक भौंह आदि सिकोड़ने की वृत्तियां नहीं होती हैं। इस कारण यह जीव टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है, ऐसा उपयोगी है। जो अपने निश्चल सहज तत्त्वस्वरूप का प्रतिभास करता है ऐसे जीव को सब ही वस्तु धर्मों में जुगुप्सा नहीं होती है, उसे निर्विचिकित्सा बोलते हैं।

निर्जुगुप्स ज्ञानी जीव के विचिकित्साकृत बंध नहीं होता है क्योंकि ग्लानि का परिणाम नहीं है। परद्रव्यों में द्वेष करने के निमित्त से होने वाला बंध ज्ञानी जीव के नहीं होता है।

ग्लानि के होने व न होने का कारण—भैया ! द्वेष की प्रवृत्ति बहुत गंदी प्रवृत्ति है। मिलता क्या है द्वेष करके? द्वेष करने से कुछ भी तो हाथ नहीं आता है। और अपने आत्मा को व देह को जलाया जाता है। बिना प्रयोजन के दुःख करता है, क्लेश करता है। दूसरे पुरुषों से द्वेष करने की वृत्ति तब होती है जब अपनी पर्याय का अभिमान होता है। मैं ऊँचा हूँ, श्रेष्ठ हूँ, धन में, बल में, सौभाग्य में मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ, ऐसी परिणति पर जब आत्मीयता की बुद्धि होती है, यही मैं हूँ मैं बड़ा हूँ, तब दूसरे जीवों से ग्लानि की द्वेष की प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष कैसा स्पष्ट हो गया है अपने आपमें? उसके लिए ग्लानि को बसाने वाला विभाव नहीं रहा। वह सब जीवों को एक चैतन्यस्वरूपमय तकता है ऐसी उसकी पैनी अन्तर में दृष्टि हो गई है।

अन्तर्दृष्टि की विषयविधि पर एक दृष्टान्त—जैसे हड्डी का एक्सरा लेने वाला यंत्र होता है उसके नीचे पड़ा

हुआ पुरुष कपड़े पहिने हुए हो तो भी कपड़े की फोटो नहीं लेता, चमड़े की फोटो नहीं लेता, खून, मांस का फोटो नहीं लेता किन्तु भीतर में जो हड्डी है उसका ही फोटो ले लेता है। वह यंत्र अन्य सब चीजों को छोड़ देता है इसी तरह तत्त्वज्ञानी पुरुष समस्त जीवों को निहारकर ऐसी उसकी पैनी तीक्ष्ण अन्तरदृष्टि है कि वह उनकी पर्याय में न अटक कर, उनकी देह के भेद में न अटककर होने वाले औपाधिक परिणामों में न बसकर अन्तर में सहज अनादि अनन्त अहेतुक जो चैतन्यस्वरूप है उस चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि पहुंचती है और इस वृत्ति से उस ज्ञानी पुरुष को सभी जीव प्रभुस्वरूप नजर आते हैं। जैसे अन्य लोगों में सभी में राम और नारायण देखने की जैसी वृत्ति है और जो उनमें ज्ञानी संत लोग हुए हैं वे प्रत्येक को राम इस प्रकार निहारते हैं। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष जीव के भेद और पर्याय में अपना उपयोग न अटकाकर आंतरिक चैतन्यस्वरूप पर दृष्टि देता है और उस दृष्टि में सर्व जीव चैतन्यस्वरूप समान नजर आते हैं।

रुचि के अनुसार दृष्टि की उद्भूति—जैसे जिसका चित्त बड़े सुख में है, बहुत प्रकार के आराम के साधन हैं, प्रसन्न मिजाज रहता है वह नगर में घूमे और कोई दुःखी रोता हुआ नजर आए तो कुछ ऐसा उसे प्रतीत होता है कि ये ऊपर पट्टी रो रहे हैं, दुःखी कोई नहीं है। जो सुख में मस्त हैं उसके ऐसी दृष्टि है कि जगत के जीवों का दुःख मुश्किल से पहिचान सकेगा। वह देखेगा भी तो यों सोचेगा कि ये कुछ नाटक-सा कर रहे होंगे, कुछ ऐसा करना पड़ता होगा। यों ही रोते होंगे। उनके अन्तर में कुछ वेदना है यह उसके ध्यान में नहीं आ पाता, क्योंकि सुख पर्याय में मस्त है। परमार्थतः कोई बाहर में देखता जानता तो है नहीं। जो देखता जानता है सो निश्चय से अपने को ही देखता जानता है। जैसे खुद हैं तैसा ही तो अपना परिणामन होगा ना, जैसी स्वयं की दृष्टि है उसके खिलाफ भी कुछ है दुनिया में, मगर वह उपयोग में नहीं जच पाता है। साधारणतया उनके ज्ञाता दृष्टा रहते हैं। जैसे इन व्यवहारी जीवों में पर के प्रति अपनी दृष्टि के मुताबिक अनुभव होता है इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी जीवों में अपनी दृष्टि के मुताबिक समस्त जीवों के प्रति ख्याल और श्रद्धान होता है। जिसको सहज केवल शुद्ध ज्ञानमात्र की दृष्टि है अर्थात् जिस स्वरूप में जानन बसा है, जानन से अतिरिक्त कुछ भी विभाव हो उसे स्वरूप में नहीं लपेटता है, होता तो है मगर स्वरूप रूप नहीं जानता है, ऐसा भेद करके तीक्ष्ण दृष्टि रखने वाला पुरुष सब जीवों के बाह्यस्वरूप को भी देखकर उनके बाह्य स्वरूप में नहीं अटकता, किन्तु चैतन्यस्वरूप की अन्तरदृष्टि करता है, ऐसी शुद्ध दृष्टि रखने वाले पुरुष के निर्विचिकित्सा अंग प्रकट होता है।

रुचि के विषयभूत पदार्थ में ग्लानि का अभाव—तात्पर्य यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के वस्तु के धर्म में, जिस विभावरूप धर्म में जीव दुःखी ही भान हो सकता है, ऐसे क्षुधा, तृषा आदि भावों में और बाहर के जो मलिन पदार्थ हैं—मलमूत्र आदिक उन मलिन द्रव्यों में ग्लानि नहीं होती और विशेषतया धर्मीजनों की सेवा का प्रसंग हो तो वहाँ ग्लानि के अंश का नाम नहीं होता। धर्म की रुचि के आगे मल मूत्र आदि की ग्लानि भी खतम हो जाती है। जैसे मां को पुत्र की रुचि के कारण पुत्र के मलमूत्र आदिक से ग्लानि नहीं रहती। और यदि रुचि न हो तो ग्लानि करे। जैसे प्रेम से अपने बच्चे की नाक साड़ी से भी पोंछ सकती है, दूसरे के बच्चे

की नाक को वह माँ अपनी साड़ी से नहीं पोंछ सकती है, क्योंकि उससे प्रेम नहीं है। यह एक व्यावहारिक बात कही जा रही है। जहाँ रुचि होती है वहाँ ग्लानि नहीं होती है और जहाँ रुचि नहीं है वहाँ ग्लानि होती है और रागद्वेष उत्पन्न होते हैं।

कल्याण के लिये कर्तव्य—अपने को करना क्या है? जिससे अपनी परिणति सुधरे, शांति आए वही तो काम करना है। किन्हीं को क्या दिखाना है, क्या बताना है, कहा महिमा बढ़ाना है, स्वयं अपने आपमें अपना कल्याण करना यही काम करने को पड़ा हुआ है। सो कल्याणस्वरूप जो खुद का ऐश्वर्य है, स्वरूप है उस स्वरूप की रुचि जगना चाहिए। जिसको कल्याणस्वरूप निज तत्त्व की रुचि जग जाती है उस पुरुष को कल्याणमूर्ति धार्मिक जनों की सेवा में ग्लानि नहीं होती है। उस ग्लानि का कारणभूत जुगुप्सा नाम की पर्याय का उदय है। ग्लानि करने रूप पर्याय जीव में जीव के कारण नहीं हुआ करती। जीव में होती तो है, पर जीवद्रव्य के स्वभाव से नहीं है। जुगुप्सा नामक प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर यह जीव अपने आप में अपनी परिणति को स्वतंत्र रूप से करता है। जितने पदार्थ हैं वे मात्र अपनी परिणति से परिणमते हैं। दूसरे निमित्तभूत पदार्थों की परिणति लेकर नहीं परिणमते। स्वतंत्रता तो इतनी है, और चूंकि कोई-सा भी विभाव उपाधिरूप परनिमित्त के अभाव में नहीं उत्पन्न हो सकता, इस कारण सर्व विकारभाव परभाव कहलाते हैं। इनमें रुचि मत करो और इनसे अपने को ग्लान मत बनाओ।

निर्जुगुप्स ज्ञानी का कारण—जुगुप्सा नामक प्रकृति का उदय होने पर अपने आपकी ग्लानिरूप पर्याय का कर्ता होता है, पर ज्ञानी जीव के परमात्मतत्त्व की भावना का ऐसा बल है कि उस ज्ञानभावना से उदय योग्य प्रकृति को संक्रांत कर देता है और फिर उदय रहता है तो उसका अव्यक्त परिणाम रहता है। इस कारण सम्यग्दृष्टि जीव को जुगुप्सा के कारण होनेवाला बंध नहीं होता है। वह जुगुप्सा प्रकृति कुछ रस देकर छूट जाती है। वह आगामीकाल के लिए बंध का कारण नहीं बनती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपकी भावना में सावधान है और दूसरे जीव से द्वेष, घृणा, ईर्ष्या आदि बातों को नहीं करता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंग का धारी ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक होकर अपने आपमें सदा प्रसन्न रहता है।

ग्लानि भाव से आत्मघात—ग्लानि करना एक आत्मघातक दोष है। बाह्यपदार्थों से ग्लानि करते हुए में इस जीव को स्वरूप की दृष्टि तो रहती नहीं। बाह्यपदार्थों में द्वेष और जगता है। ग्लानि का मूलकारण द्वेष है। द्वेष की प्रेरणा में ग्लानि की उत्पत्ति होती है। जीव जब सर्व एकस्वरूप हैं, उनका सहज सत्त्व सहज लक्षण एक समान है, फिर उनमें से किसी को अपना मान लिया, किसी को पराया मान लिया, ऐसी जो अन्तर में वृत्ति जगती है यही महाविष है। यह सारा संसार झूठा है अर्थात् परमार्थरूप नहीं है, विनाशीक है और दो पदार्थों के संयोग के निमित्तनैमित्तिक भाव से होने वाला इन्द्रजाल है। यहाँ कोई चीज विश्वास के योग्य नहीं है। किसका विश्वास करें, किसका शरण मानें, यह जीव मोह में विश्वास करता है अपने परिजनों का, कुटुम्ब का, मित्रों का और चाहे वे परिवार के लोग मित्र जन भी अन्तर से अपने कषाय के अनुसार प्रेम दिखाते हों, आज्ञा मानते हों, पर वस्तु के स्वरूप को मेट कौन देगा? जब पाप का उदय आयेगा तब सब ही

विपत्ति बन जायेंगी अथवा जब आयुर्कर्म के विनाश का समय होगा तो कितना ही कोई प्रेम करने वाला हो, कोई बचा नहीं सकता ।

यथार्थज्ञान की हितकारिता—भैया ! यथार्थ ज्ञान जीव को रहे तो विह्वलता नहीं हो सकती । अपने पुत्र परिवार में विशेष राग और मोह परिणाम रहेगा तो उसमें वेदना ही बढ़ेगी, शांति नहीं हो सकती है । जो मिला है उसके ज्ञाताद्रष्टा रहो, घर में ये पुत्र हैं, रहो, उनके ज्ञाता रहो । हैं वे भी एक जीव । और संयोगवश इस घर में आकर जन्मे हैं, पर ये ही मेरे हैं बाकी सब गैर हैं, इस प्रकार की जो अंतरंग में श्रद्धा है यह श्रद्धा ही इस जीव को अंधेरे में पटक देती है । उससे कोई सारभूत बात नहीं निकली । जैसे किसी से राग करना आत्मा का विनाश है, इसी प्रकार किसी से द्वेष करना भी आत्मा का विनाश है । राग और द्वेष इन दो पाटों के बीच यह जीव पिसता चला आया है । करना कुछ पड़े पर ज्ञान यथार्थ रखो । जो बात जैसी है वैसी ही मानने में कोई श्रम नहीं होता है । घर है, वही है, ठीक है, रहना पड़ रहा है, रहना ठीक है । बात वही करना है जो कर रहे हो इस गृहस्थावस्था में, पर यथार्थ ज्ञान भी अन्तर में बनाए रहो तो उसमें फर्क कहां आता है कोई संपत्ति घटती है या परिवार नष्ट होता है? बल्कि यथार्थ ज्ञान होने के कारण न तो राग की वेदना सतायेगी और न चिंताएं सतायेगी । इस कारण यथार्थ ज्ञान रखना इसमें ही अपने आपकी रक्षा है ।

सम्यग्ज्ञान से ही आत्मरक्षा—आप जीवों की रक्षा का उपाय इस लोक में और कुछ दूसरा नहीं है । किससे अपनी रक्षा हो सकती है? सभी दूसरे अरक्षित हैं । जिनको हम दूसरा मानते हैं और पर्याय की मुख्यता से जो हम ढाँचा देखते हैं वह ढाँचा ही स्वयं अरक्षित है । जो स्वयं मर मिटने वाले हैं वे हमारी रक्षा कैसे कर सकते हैं? हमारी रक्षा का करने वाला न तो कोई अन्य चेतन पदार्थ है और न कोई अचेतन पदार्थ है । हमारी रक्षा करने वाला हमारा सम्यग्ज्ञान है । हम स्वयं सुरक्षित हैं, अरक्षित हैं कहाँ जो हम घबड़ाएँ । हां व्यर्थ की हठ की परपदार्थ मेरे तो कुछ नहीं हैं और उनमें हठ कर जायें कि ये मेरे ही हैं, इन्हें मेरे ही पास रहना चाहिए था, इन्हें मेरे पास रहना पड़ेगा, इस प्रकार का एक व्यर्थ का हठ, व्यर्थ का ऊधम मचायें तो अपने ही इस दुराचार से हम स्वयं दुःखी हो जाते हैं । हमारा स्वरूप सुरक्षित है, ऐसे सुरक्षित ज्ञानानंद मात्र सहज आनन्द का निधान शुद्ध ज्ञायकस्वरूप से विमुख होना यह परमार्थ से बड़ी जुगुप्सा है । अपने आपके प्रभुस्वरूप से मुख मोड़े रहना यही परमार्थ से ग्लानि है ।

स्वरूपविमुखता में अशरणता—अपने आपके स्वरूप से प्रभुरूप से ग्लानि करके यह जीव कहाँ शरण पायेगा? जहाँ जायेगा वहाँ ही फुटबाल की तरह ठोकर खाकर वापिस आयेगा । किसकी शरण में जाऊँ? ये दिखने वाले चेतन पदार्थ जीव त्रस आदिक, मनुष्य आदिक पशु पक्षी, ये स्वयं कषाय से भरे हुए हैं । इनके स्वार्थ में जहाँ धक्का लगा तहाँ ही आप से मुख मोड़ लेंगे । कोई भी हो, स्वरूप को कहां टाला जा सकता है? जो पुत्र, मित्र आपको बहुत अधिक प्रिय लग रहे हैं उनके स्वार्थ में कुछ धक्का तो लगे, फिर देखो आप से वात्सल्य रखते हैं कि नहीं । नहीं वात्सल्य रख सकते हैं । तो यह समस्त व्यवहार कषाय से कषाय

मिलने का है। यहाँ कोई किसी से प्रीति नहीं करता। कोई भी हो। भगवान है वह तो प्रीति रंच भी नहीं करता है। और भक्त है सो व्यवहारभाषा में ऐसा कहा जाता है कि भक्त भगवान से प्रीति करता है। पर वास्तव में भक्त अपने ही मंद कषाय से जो स्वयं भक्त में होने वाली वेदना है, परमात्मस्वरूप के स्मरण का जो अनुराग है उसको दूर करने के लिए उस पीड़ा को शांत करने के लिए चेष्टा करता है। और वास्तव में अनुराग करता है तो अपने गुणों के विकास में अनुराग करता है।

परमार्थ जुगुप्सा महान् अपराध—अपने आपकी प्रभुता के स्वरूप से प्रतिकूल रहना यह सबसे बड़ा दोष है। यही परमार्थ से जुगुप्सा है। धर्मस्वरूपमय निजपरमात्मतत्त्व से ग्लानि करना मुख मोड़े रहना यह अपराध है और केवल अपने आपके प्रभु पर अन्याय करने मात्र का ही अपराध नहीं है, किन्तु जगत के समस्त जीवों पर सर्व प्रभुओं पर यह अन्याय है, अपने आपके स्वरूप का पता न हो सके, यही निज प्रभु पर अन्याय है, अनन्त प्रभुओं पर अन्याय है। सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने आपके स्वभाव से विमुख नहीं होता, अपने स्वरूप से जुगुप्सा नहीं रखता किन्तु रुचि रखता है। इस धर्ममय आत्मप्रभु की सेवा में रहकर कोई कष्ट भी भोगना पड़े, उपद्रव उपसर्ग भी सहना पड़े तो भी उनमें विषाद नहीं मानता, अपने परिणामों को म्लान नहीं करता, ग्लान नहीं होता। यही है परमार्थ से निर्विचिकित्सक अंग का दर्शन।

परमार्थनिर्विचिकित्सित अङ्ग की मूर्तियां—गजकुमार, सुकुमार, सुकौशल और-और भी अनेक मुनिराज, पांडव, सनत्कुमार, चक्री, अभिनन्दन आदि चतुर्थकाल में कितने ही विरक्त मुनिराज ऐसे हुए हैं जिन पर घोर संकट आया था। स्यालनी आदि पैरों का भक्षण कर रहे थे। तो क्या उनसे थोड़ा फुंकार भी नहीं देते बनता था? अरे उन स्याल-स्यालिनियों को अगर तेज आंखों से देख लेते तो कभी के भाग जाते। क्या उनके हटाने में बड़े बल की जरूरत थी? किन्तु उन सुकुमार मुनिराज ने अपने आपमें जो निर्विकल्प परमात्मस्वरूप का दर्शन पाया था उस परमात्म प्रभु के मिलने में, उस परमात्म प्रभु की उपासना में इतने रुचिया थे कि जिस रुचि को भंग करने के लिए उन्हें स्यालनी हटाने का विकल्प भी नहीं आया। वे थे परमार्थ से निर्विचिकित्सा की मूर्ति, जो धर्म स्वभावमय, अपने आपके प्रभु की उपासना से रंच भी विचलित नहीं हुए। बड़े-बड़े बली सूर, वीर, सुभट मुनिराज जो हजारों सैनिकों का मुकाबला करने में लीलामात्र से सफल हो जाते थे, अब जब विरक्त होकर इस परमात्म स्वभाव की साधना में लगे तब उन्हें इस प्रभुस्वरूप से इतनी महती रुचि जगी कि इसमें भंग करना उन्हें सुहाया नहीं। चाहे शरीर जले, गले, कटे, मिटे, छिदे-भिदे, जहाँ चाहे तहाँ जावे, पर अपने आनन्द को, अपने प्रभुस्वरूप की उपासना को छोड़ने का उन्हें भाव नहीं जगा।

वर्तमान विकल्प बनाकर भविष्य में निर्विकल्पता की आशा व्यर्थ—यहां सामायिक करते हुए में एक चींटी ऊपर चढ़ी हो, चाहे वह काट न रही हो, केवल बैठी हो या जरा चलती हो तो इतना भी कितने ही भाई सहन नहीं कर पाते हैं और उसको अलग हटाते हैं और ऐसी मुद्रा बनाते हैं कि इसके हट जाने के बाद फिर बढ़िया ढंग से सामायिक में मस्त हो जायेंगे। अरे जब पहिले ही ग्रास में मक्खी गिर गई तो अब भोजन का क्या ठिकाना? जब इस पहिले ही अवसर में चींटी के चढ़ने के उपद्रव को नहीं सह सकते,

विकल्पों का उपादान रखा तो अब आगे निर्विकल्पता का क्या भरोसा? सम्यग्दृष्टि जीव अपने इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप की रुचि में इतना दृढ़ है कि वह इसकी साधना के समक्ष अन्य सब बातों को अत्यन्त असार और हेय समझता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंग के साक्षात् मूर्ति मुनिराज ज्ञानी संत हैं। वे ज्ञानी संत न तो क्षुधा तृषा आदि वेदना में विषाद मानेंगे, न अपने को ग्लान करेंगे और न बाहरी पदार्थ हड्डी, माँस, मल, मूत्र, आदि गंदे पदार्थों को देखकर वे उनसे द्वेष करेंगे। ग्लानि न करेंगे। अब भी देखा जाता है कि जो विवेकी, धीर, उदार, विरक्त आत्मतत्त्व के रुचिया श्रावकजन होते हैं वे भी व्यवहार के अपवित्र पदार्थों को देखकर नाक, भौंह सिकोड़ने की आदत नहीं रखते हैं।

वास्तविक अपवित्रता का स्थान—इस जगत में अपवित्र पदार्थ है क्या? किसे कहते हैं अपवित्र पदार्थ, युक्तिपूर्वक निरखिये। नालियों में जो गंदगी बहती है उसे अपवित्र कहते हैं क्या? भला बतलाओ कि जो अपवित्र कहे जाने वाले स्कंध हैं उनमें अपवित्रता आयी कहां से? मल, मूत्र, बहता होगा अथवा कुछ कीड़े मकोड़े आदि जानवरों का विध्वंस हुआ होगा। इन सारी बातों का जो मिश्रण है वही तो नालियां हैं, अर्थात् शरीर के सम्बन्ध वाली चीजों का वह समूह है। तो शरीर गंदा हुआ। जिस शरीर के मांस, मज्जा, मल, मूत्र, हड्डी, चर्बी आदि अपवित्र माने जाते हैं वह शरीर ही अपवित्र है। अब और विचारिये कि यह शरीर क्यों अपवित्र हो गया? जिन परमाणुओं से यह शरीर बना वे परमाणु जब तक शरीररूप नहीं बने थे तब तक लोक में बड़े शुद्ध स्वच्छ थे। जब तक शरीररूप परमाणु न बने थे तब तक उन आहारवर्गणाओं के परमाणुओं का क्या स्वरूप था? क्या हड्डी माँस आदिरूप ही थे, जिनसे अब हम ग्लानि किया करते हैं? नहीं थे। जीव का सम्बन्ध हुआ, शरीर की रचनाएँ हुई और इस शरीर में ऐसी गंदी, अपवित्र मांस आदिक धातुयें उत्पन्न हुई तो शरीर का जो मूल आधार है, स्कंध है, परमाणु पुञ्ज है, औदारिक वर्गणायें आहार वर्गणायें ये तो बड़ी अच्छी थीं, पवित्र थीं। पवित्र होने पर कोई अपवित्र का सम्बन्ध हो जाये तो अपवित्र बना करता है। शुद्ध नहाये धोए लड़के को नाली से भिड़ा हुआ लड़का छू ले तो वह नहाया धोया लड़का अपवित्र माना जाता है। अन्य पवित्र बालकों को एक गंदे बालक ने स्पर्श कर लिया ना, तो ये जो आहारवर्गणायें लोक में बड़ी अच्छी विराज रही थीं उनको इस मोही जीव ने छू लिया, ग्रहण कर लिया, छू तो नहीं सकता, ग्रहण तो नहीं कर सकता, पर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि ऐसे मोही मलिन जीवों का प्रसंग होने से यही वर्गणाएँ शरीररूप परिणम कर बुरी हो जाया करती हैं। तब शरीर के परमाणुओं को जिसने छू कर गंदा बनाया है वह गंदा हुआ या शरीर गंदा है। वह मोही जीव गंदा हुआ।

जीव पदार्थ में अपवित्र भाव—अब उस मोही जीव की भी चर्चा सुनो वह जो जीव है, द्रव्य है, एक चेतन पदार्थ है, वे द्रव्य तो सब एक चेतन समान हैं, केवल ज्ञायकस्वरूप है, चैतन्यस्वभावरूप हैं। उनके स्वभाव में कहां गंदगी बसी है? ये जीवद्रव्य भी अपने स्वभाव से मलिन नहीं है। पर इस जीव का जो विकारपरिणमन हुआ है, रागद्वेष मोहभाव जगा है यही अपवित्र परिणमन है। तो लोक में सारी अपवित्र चीजों के कारण को विचारा जाये तो अंत में मिलेगा सबसे अधिक अपवित्र तो रागद्वेष मोह मिलेगा। इन

तीनों में रागद्वेष तो एक शाखा की तरह है और मोह उनकी जड़ है। इन तीनों में भी अधिक अपवित्र क्या है? अपेक्षाकृत बात देखो—लोग द्वेष से बड़ी घृणा करते हैं। कोई जीव द्वेषी है, बैर रखता है, लड़ाई झगड़ा करता है, द्वेष दिखाता है तो उसके द्वेष से लोगों को बड़ी नफरत होती है। कैसा बेढंगा आदमी है, द्वेष ही द्वेष करता है। द्वेषभाव को लोग बुरी दृष्टि से देखते हैं, किन्तु यह तो बतलाओ कि यह द्वेष क्या द्वेष के लिए ही आया है? द्वेष का प्रयोजन क्या द्वेष करना है? नहीं। द्वेष किसी राग के कारण आया है। द्वेष का प्रयोजन किसी राग का पोषण है। किसी बात में राग आये बिना पर से द्वेष की उत्पत्ति नहीं हुआ करती है। जो मनुष्य बैठे ही ठाढ़े प्रकृत्या किसी भी धर्मात्मा जीव से द्वेष और ईर्ष्या का परिणाम बनाते हैं और अपने आप में जलते भुनते हैं, अपनी परिणति का राग, अपने आपकी पर्याय को आपा मानकर, उसके बड़प्पन रखने का परिणामरूप जो राग है उस राग की प्रेरणा से वह धर्मात्माजनों से भी द्वेष रखता है। तब द्वेष से अधिक गंदा राग हुआ ना।

राग का मूल मोह—अब राग की भी बात देखिये—इस जीव को खामखां राग हो क्यों गया? जब कोई वस्तु अपनी नहीं है, किसी परपदार्थ से अपना हित नहीं है तो यह रागभाव जग क्यों गया? इस रागभाव के जगने का कारण है मोहभाव। इसे अज्ञान है, स्व और पर का विवेक नहीं है, भिन्न-भिन्न स्वरूपास्तित्व की निरख नहीं है। वह जानता है कि किसी पदार्थ से किसी दूसरे पदार्थ का कुछ काम होता है, बनता है। मैं किसी दूसरे का कुछ भी कर सकता हूँ, कोई दूसरा मुझे कुछ भी कर सकता है। निमित्त-नैमित्तिक भावपूर्वक अपने आपके चतुष्टय में परिणमन होते रहने की बात इसके उपयोग में नहीं है। कर्तृत्व बुद्धि और स्वामित्व बुद्धि समाई हुई है। इस कारण यह जीव पर से राग करता है। तो उस रागभाव का कारण है अज्ञानभाव, मोहभाव। इस मोहभाव के वश होकर जो जीव सहज ज्ञानानन्द निधान निज परमात्म-स्वरूप की रुचि नहीं करता, उससे अरुचि रखना, विमुख रहना, वही है परमार्थ से विचिकित्सक प्राणी।

निर्विचिकित्सित अङ्ग की मूर्ति जयवंत हो—जो महान् आत्मा प्रत्येक परिस्थितियों में अपने आपके प्रभुस्वरूप की रुचि में दृढ़ रहता है इस धर्म स्वभावमय आत्मतत्त्व की उपासना में इतना रुचिवान है कि उपद्रव उपसर्ग कुछ भी आए तो भी विषाद नहीं करता, खेद नहीं मानता, वही है परमार्थ से निर्विचिकित्सा अंग का दर्शन। जैसे माँ अपने बच्चे में रुचि रखती है तो बच्चे के नाक निकले, मलमूत्र निकले तो भी उस स्थिति में विषाद नहीं मानती। जैसे कि और माँ किसी दूसरे पुत्र से ऐसी बात हो जाये उसके शरीर पर, कपड़ों पर, तो वह खेद मानती है, झल्ला जाती है। इस माँ को झुंझलाहट नहीं होती है, खेद नहीं होता है, इसी प्रकार अन्य धर्मात्माजनों की सेवा में रहते हुए ऐसी ही बात आए तो वह धर्मात्मा पुरुष खेद नहीं मानता और चैतन्यस्वभाव धर्ममय अपने आत्मतत्त्व की उपासना में रहते हुए क्षुधा, तृषा, निन्दा, दरिद्रता कुछ भी बातें उपस्थित हों, तो उन परिस्थितियों में खेद नहीं मानता, विषाद नहीं मानता। अपनी रुचि की धुन में ही बना रहता है। ऐसे निर्विचिकित्सक अंग की मूर्तिरूप ये ज्ञायकस्वभावी जयवंत हों और इनके उपासना के लिए ऐसा बल प्रकट हो कि हम धर्मात्मा पुरुषों की सेवा में रहते हुए खेद, विषाद, थकान न मानें और उनके

रत्नत्रय गुण स्वरूप की महिमा में हमारा उपयोग बना रहे । भैया ! दोष ग्रहण करना, घृणा करना, ग्लानि करना, विमुख रहना, ईर्ष्या करना – इन दोषों से इन विपत्तियों से दूर बना रहूं, ऐसा यत्न करना, सो मोक्षमार्ग का इस निर्विचिकित्सक अंग में एक महान् पुरुषार्थ है ।

अब अमूढदृष्टि अंग का वर्णन करते हैं ।

गाथा २३२

जो हवइ असम्मूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु ।

सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३२॥

अमूढदृष्टि का स्वरूप—जो जीव सर्वभावों में अमूढ है, समीचीन दृष्टि रखता है वह ज्ञानी पुरुष निश्चय से अमूढदृष्टि सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । आत्मा का जो सहज अपने आपके सत्त्व के रस से जो परिणाम है उस असाधारण भाव के अतिरिक्त अन्य जो भी भाव हैं उनमें जो मुग्ध नहीं होता अर्थात् उन्हें आत्मरूप से नहीं अपनाता उसे अमूढदृष्टि समझना चाहिए । मैं क्या हूँ, इसके उत्तर में जिसकी दृष्टि अनादि अनन्त ध्रुव ज्ञायकस्वभाव पर पहुंचती है और उस ध्रुव पारिणामिक भाव से भिन्न जो अन्य भाव हैं उन भावों में आत्मरूप से श्रद्धान नहीं होता है उसे अमूढदृष्टि कहते हैं । यह जीव बाहरी पदार्थों को अपना मानता है, यह व्यवहार कथन है । उन्हें नहीं मानता है किन्तु जिस प्रकार का ज्ञान बना, ज्ञेयाकार परिणमन हुआ ऐसी परिणतिमय अपने आपको जानता है । अन्य पदार्थों का जानना व्यवहार से कहलाता है । अर्थात् अन्य पदार्थों में यह जीव तन्मय नहीं हो सकता । यद्यपि अज्ञानी जीव के लिए यह कहा जाता है कि यह किसी अन्य पदार्थ से तन्मय हो रहा है, फिर भी वास्तव में वह अज्ञानी भी किसी परपदार्थ में तन्मय नहीं हो सकता । वह तो जिस प्रकार की रचना अपने आपमें बना रहा है उसमें ही तन्मय है ।

मूढदृष्टि के लक्ष्यस्थान—यह जीव किसे अपना मानता है? शरीर को आपारूप से श्रद्धान करता है । यह शरीर निज सहज चैतन्यभाव से अत्यन्त विपरीत है । और इससे गहरे उतरें तो आगम से जैसा जाना है उस प्रकार से रचे हुए ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्माँ को आपा मानता है । अथवा उन द्रव्यकर्माँ के विपाक में होने वाली जो आत्मभूमि में परिणति है उसे 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है । तब कषाय करते हुए मैं विषय कषाय करते हुए 'यही तो मैं हूँ' ऐसा अभेद श्रद्धान करता है, रागादिक भावों से भिन्न मैं कुछ हूँ, ऐसी दृष्टि नहीं पहुंचती है, न निज ध्रुव पारिणामिक भावों से भिन्न रागादिक भावों को आत्मस्वरूप मानता है वह मूढदृष्टि है । उसे अन्य भावों में मोह हो गया है । अन्य भावों को आत्मरूप से ग्रहण करता है, और अन्तर में चले तो क्षायोपशमिक विकल्प हो रहे हैं छुटपुट ज्ञान हो रहे हैं उन्हें यह जीव आत्मस्वरूप मानता है ।

ज्ञानविकल्पों में मूढदृष्टिता—क्षायोपशमिक ज्ञानविकल्पों को आत्मस्वरूप मानता है, इसका प्रमाण यह है

कि किसी जानकारी के समय में जब परस्पर कोई विवाद हो जाता है तो अपना पक्ष गिरने पर वह अपनी बड़ी हानि अनुभव करता है, और ऐसी स्थिति में अपने में क्रोध मान कर लेता है। वह अपने को बरबाद-सा अनुभवने लगता है। यह है क्षायोपशमिक विकल्पों में आत्मस्वरूप मानने का फल। उस जीव ने निज स्वभाव से भिन्न ज्ञानादिक क्षायोपशमिक विकल्पों में आपा स्वीकार किया है। अभी इसके अन्य भावों में मोह है।

शुद्ध परिणमन में भी आत्मद्रव्यत्व की अमुग्धता—इससे और अन्तर में चलते हैं तो परिपूर्ण ज्ञान, परिपूर्ण विकास, शुद्ध परिणति, केवलज्ञान जैसे कि बांचा है, सुना है, जाना है। उसके महत्त्व को जानकर उस परिणति के लिए अपना उपयोग विकल्प बनाकर ऐसा ही मैं होऊँ, यह ही मैं हूँ, यद्यपि विकास की बात ठीक है किन्तु जिसे निज ज्ञायकस्वरूप का परिचय नहीं है, वह केवलज्ञान आदिक शुद्ध भावों के पाने का भी विकल्प बनाए तो उसके लिए तो वह परिणाम ऐसा है जैसा किसी अन्य के प्रति परिणाम करता हो। वे केवलज्ञानादिक पर्यायों मेरी परिणति हैं, मेरे से प्रकट होती हैं, वह क्षण-क्षण का निरंतर अनन्तकाल तक सदृश चलने वाला परिणमन है, मैं एक ध्रुव ज्ञायकस्वरूप हूँ, ऐसा जिसे बोध नहीं है वह पुरुष उनमें उपयोग लगाए और उपयोग लगाते समय वह अपने को वैसा ही अनुभव करे जैसा आत्मरूप अनुभव करता है। और आत्मद्रव्यरूप अनुभव करना सो ज्ञायकस्वरूप से अपरिचित पुरुष का एक काम है। एक टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायकस्वभावमय परमपारिणामिक भावरूप निज चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य भावों में आत्मरूप श्रद्धान करना, यह ही मैं समग्र आत्मद्रव्य हूँ, सो वे सब मोह की जातियाँ हैं।

अमूढदृष्टि का ज्ञातृत्व—यह जीव सर्व भावों में असम्बद्ध है, यथार्थ दृष्टि रखता है, उस ही पुरुष को सम्यग्दृष्टि जानो। सम्यग्दृष्टि सर्व पदार्थों का यथार्थस्वरूप जानता है, उसके रागद्वेष मोह का परिणाम नहीं है, अतः अयथार्थ दृष्टि नहीं है। चारित्र मोह के उदय से इष्ट अनिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं, उनकी उदय की बलवत्ता जानकर उन भावों का कर्ता नहीं होता है। उन रूप अपने आपका श्रद्धान नहीं करता है। विशेष विह्वलता होने के कारण परभावों में आत्मस्वरूप का अनुभव करता है। जिस पदार्थविषयक राग है उस राग के अनुकूल पदार्थ का परिणमन न देखकर अपने आपमें खेद करने लगता है। विशेष विह्वलता इस कारण होती है कि उस रागपरिणमन में ही आपा के स्वरूप का श्रद्धान है। यदि उस काल में इस राग स्वरूप में आपा का श्रद्धान न हो तो वहाँ विह्वलता न हो सके। अपने आपके विनाश की शंका सर्व शंकाओं का मूल बनती है। और प्रधान शंका यही कहलाती है, ऐसी शंका, ऐसा व्यामोह सम्यग्दृष्टि पुरुष के नहीं होता है।

शुद्धात्मभावना से अमूढता एवं कापथ में अनास्था—जो ज्ञानी निज शुद्ध आत्मा में श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण के रूप से अर्थात् निश्चय रत्नत्रय की भावना के बल से शुभ अशुभकर्म जनित परिणामों में मुग्ध नहीं होता है उसे अमूढदृष्टि जानना। अपने ध्रुव पारिणामिक ज्ञानस्वभाव से भिन्न किसी भी परपदार्थ में मुग्ध न होना चाहिए। परिणतियों का व्यामोह क्षोभ का स्थान है, वह ज्ञानी जीव निश्चयकरि सम्यग्दृष्टि है। जिसके अध्रुव औपाधिक परभावों में ही जो कि जीव के स्वतत्त्व है अर्थात् आत्मा में परिणत होते हैं उनसे भी

मोह न रखता हो वह सम्यग्दृष्टि पुरुष किन्हीं बाह्य पदार्थों में कैसे मोह रख सकता है? जिनके उपयोग में ऐसे स्वभाव की दृढ़ता है वे कदाचित् कुदेव, कुशास्र, कुगुरु, कुधर्म—इनमें कोई चमत्कार भी देखे तो वह उनमें व्यामोह नहीं करता है, और उन चमत्कारों के कारण उन कुपथों को यह सम्यक् सोच ले ऐसी प्रवृत्ति सम्यग्दृष्टि में नहीं होती है। एक दृष्टांत दिया गया है पुराणों में रेवती नामक रानी का। एक मुनिराज ने रेवती रानी के अमूढदृष्टि अंग का वर्णन किया, प्रशंसा की। तो सुनते हैं कि अभव्यसेन मुनि हो, या कोई हो, उसको यह जिज्ञासा हुई कि देखें तो सही कि कैसा इसका दृढ़ श्रद्धान है, या किसी देव ने परीक्षा की हो। ब्रह्मा का रूप रखकर बड़ा चमत्कार बताया। सारी दुनिया उसकी ओर झुके, पर रेवती रानी का चित्त न डिगा। और-और देवताओं ने जैसा उन पुराणों में वर्णन है, अपना आडम्बर दिखाया बड़ी ऋद्धि-सिद्धि दिखाई पर उस रेवती रानी का चित्त न डिगा। अंत में एक तीर्थंकर जैसा कोई आडम्बर दिखाया, रचना वैसी ही बनाया, वैसा ही सब किया जितना तक हो सकता था। लोगों ने कहा कि अब तो तीर्थंकर महाराज आए हैं, अब तो वंदना को चलना चाहिए। उस रेवती रानी का दृढ़ श्रद्धान था कि इस काल में तीर्थंकर होते ही नहीं है। चौबीस तीर्थंकर माने गए हैं, ये २५ वें तीर्थंकर कहाँ से हो गए? कुछ ऐसी ही कथा है। जिसमें यह दिखावा है कि बड़े-बड़े चमत्कारों के दिखाये जाने पर भी जिसका चित्त चलित नहीं होता है, श्रद्धा से विचलित नहीं होता है उस ही आत्मा को अमूढदृष्टित्व कहते हैं।

विभावरूप स्वतत्त्व में भी ज्ञानी के असम्मोह—इस सम्यग्दृष्टि के निज भूमिका में उत्पन्न होने वाले परभावों में भी मोह नहीं जगता। लोक में सबसे बड़ा वैभव है शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की दृष्टि जगना। जितने भी जैनसिद्धान्त के उपदेश है उनका मात्र प्रयोजन शुद्ध ज्ञानस्वभाव की दृष्टि कराना है। तुम तो चैतन्यस्वरूप मात्र हो। निश्चयनय से स्वरूप का वर्णन है कि अपने आपको ही करते हो, अपने आपको ही भोगते हो। तुम्हारा तुम्हारे से अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ में रंच भी सम्बन्ध नहीं है। तुम्हारा चतुष्टय तुम ही में है। अन्य वस्तुओं का चतुष्टय उन अन्य में ही है। ऐसा दिखाकर इस जिज्ञासु मुमुक्षु को एकत्वस्वरूप में उपयुक्त कराया गया है। इसे किसी पर का विकल्प न उठे और यह अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप का अनुभव करले, इसके लिए निश्चयनय से ज्ञायकस्वभाव इसे पहिचानवाया गया है। जहाँ विज्ञान और व्यवहार दृष्टि में उपदेश चलता है कि यह जीव तो शुद्ध ज्ञायकस्वभावमय है। इसमें स्वरसतः रागादिक होते ही नहीं हैं। उसका रागादिक स्वभाव ही नहीं है। इसमें जो रागादिक की झलक होती है वह कर्मों के उदय का निमित्त पाकर होती है। जिसका उदय होने पर हो और उदय न होने पर न हो, इन रागादिक भावों का उससे ही अन्वय व्यतिरेक है। इन रागादिकों का आत्मा से अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के होने पर रागादिक हो तो आत्मा तो सतत है, फिर कभी रागादिक से मुक्त नहीं हो सकता है। ये औपाधिक भाव हैं, परभाव हैं, तेरा स्वरूप नहीं हैं। तू तो सबसे निराला शुद्ध ज्ञायकस्वभावी है। इस ज्ञायकस्वभावी की दृष्टि कराने के लिए ही व्यवहार का भी प्रयोजन है।

स्वानुभव का मात्र एक कर्तव्य—भैया ! अपना यह एक ही कर्तव्य है जिस किसी भी उपाय से हम

अपने आपको ज्ञानस्वरूपमात्र अनुभव कर सकें । स्वानुभव की शास्त्रों में बड़ी महिमा गाई है । उस स्वानुभव के होने की पद्धति है स्व का अनुभव होना । अनुभव का अर्थ जानना । जानने से और भी अन्तर में चलें तो कहिए मानना । जानने और मानने की कला में भी तो द्वैतभाव रह जाता है—मैं इसे जानता हूँ, मैं इसे मानता हूँ, जब मानने की स्थिति और गहरी बन जाती है, अर्थात् जहाँ यह द्वैत भी नहीं रहता है उस स्थिति को कहते हैं अनुभवना । स्व का अनुभवना क्या है? स्व का जानन ही तो स्व का अनुभवना है । दृढ़ता से निश्चलता से अभेद विधि से जानने का नाम अनुभवना है । स्व का अनुभवना, स्व को किस प्रकार जानें तो बन सकता है । इस निज आत्मतत्त्व को क्या विविध संसारी पर्यायरूप देखते रहें तो स्व का अनुभव हो सकेगा? क्या उस जानन के साथ इस ज्ञाता के अभेद अनुभवन बन सकेंगे? अथवा उन व्यञ्जन पर्यायों को भी छोड़िये, विभाव गुण पर्यायरूप अपने आपको जानें तो क्या उनसे स्व का अनुभव हो सकेगा? अथवा भेदवृत्ति से जिसने स्वभावपर्याय को भी जाना तो क्या वहाँ स्व के अनुभव की स्थिति हो सकेगी ?

सहज ज्ञानानुभूति में स्वानुभूति—स्व को किस प्रकार जानें कि निज का अनुभव हो सके? अब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में से पिण्डरूप द्रव्य, विस्ताररूप क्षेत्र और परिणतिरूप काल—इन तीनों की अपेक्षा न रखकर अर्थात् इसका आश्रय न लेकर अभेद में चलना । हैं तो वे सही, पर उनका आश्रय लेकर अर्थात् उन-उन रूप अपने आत्मा को निरखने पर इस ज्ञाता को अभेद वृत्ति नहीं होती है । उस चतुष्टय में से जीवद्रव्य के लिए भावों का बड़ा प्रधान स्थान है । वे भाव भेदरूप और अभेदरूप दो प्रकार से निरखे जाते हैं । भेदरूप भाव में तो शक्तियां और गुण दृष्टि में आते हैं । सो उन शक्तियों में से किसी भी शक्तिरूप किसी भी गुणरूप से आत्मा में निरखने पर चूंकि भेदवृत्ति से गुणों को देख रहा है तो वहाँ जानने वाला यह और जानने में आया हुआ यह, यों द्वैत दिखा ना, इस प्रकार अंश-अंशी का भेद रहता है । जिस काल में इससे भी और अन्तर में उतरकर सर्वगुणों का प्रतिनिधिस्वरूप असाधारणरूप जो ज्ञायकस्वभाव है, चैतन्यस्वभाव है जिसका कि परिणमन ज्ञातृत्व है, वह ज्ञाता अपने ज्ञातृत्व परिणमन के स्रोतरूप ज्ञानस्वभाव के जानने में लग जाये तो इस पद्धति में जो जानने वाला है वही ज्ञेय बन जाता है और इस ज्ञान, ज्ञाता, ज्ञेय की अभेदानुभूति में इसके स्वानुभव जगता है । इसे सीधे शब्दों में यों कहना चाहिए कि जो सहज ज्ञान की अनुभूति है वही आत्मा की अनुभूति है ।

स्वरूप परिचय बिना मनचाही कल्पना—जब तक निज ज्ञायकस्वरूप का परिचय और अनुभव नहीं होता है तब तक यह जीव भिन्न-भिन्न प्रकार के परभावों में आत्मरूप का श्रद्धान करता है—यह मैं हूँ । जिसकी समझ में जो अपने निकट में आया उसे ही आपारूप मानने लगता है । इस पिंड के अन्तर में अमूर्त चैतन्यस्वभावमात्र चेतन पदार्थ है ऐसा जगत के प्राणियों को पता नहीं है । जिन्हें पता है उन्हें अन्तरात्मा कहते हैं । निज स्वभाव का परिचय न होने से पग-पग में छोटी-छोटी घटनाओं में भी यह जीव अपने आपका विश्वास पर्याय में है, इस मुद्रा से बात करता है । लो यह मैं आया, अजी इसे मैं कर दूंगा, आप क्यों तकलीफ करते हैं? यह तो सब मेरी लीलामात्र में हो जायेगा । अपनी विभावरूप परिणतियों में,

कलाओं में अहंकार, कर्तृत्व, मोह ये सब बना रहे हैं ।

अमूढ़दृष्टि का प्रताप—यह सम्यग्दृष्टि जीव एक निज टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वतःसिद्ध, अनादि सिद्ध अविनाशी ज्ञानस्वभाव में ही अपने आपका श्रद्धान करता है और इसके अतिरिक्त अन्य जितने भी भाव हैं वे चाहे स्व में अनुभवरूप हों, अन्य क्षेत्र में अन्य रूप हों उन सबमें आपा का श्रद्धान नहीं करता वह पुरुष अमूढ़दृष्टि जानना चाहिए । ऐसे पावन आत्मा के बाह्य विषयों में मूढ़ता होने रूप भावकृतबंध नहीं होता है । अथवा पर समयों में मूढ़ताकृत बंध नहीं होता है, अथवा संवर का निधान जो संवर स्वरूप है, सुरक्षित दृढ़ दुर्ग है उसके उपयोग में स्थित है । यह आत्मद्रव्य स्वयं संवर स्वरूप है । इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं है । इस बात का इस ज्ञायकस्वभाव का जब परिचय होता है तो बाह्य सम्बन्धों में भी वह सम्भृत ही रहता है । इस संवर तत्त्व का वहाँ विलास होने से परिणामों में इतनी निष्पृहता, स्वोन्मुखता और परपराङ्मुखता है कि पूर्वबद्ध कर्मों की वहाँ निर्जरा ही होती है ।

अमूढ़दृष्टि की मोक्षमार्ग में प्रगति—इस तरह यह अमूढ़दृष्टि अंग का धारी सम्यग्दृष्टि न तो किन्हीं कुदेव, कुगुरुओं में मुग्ध होता है, न उनके किसी चमत्कार में मुग्ध होता है, न अन्य बाह्य विषयों में मुग्ध होता है और न अपने में उत्पन्न हुए रागादिक परिणामों में मुग्ध होता है । वह तो निरन्तर आनन्द झराने वाले शुद्ध चैतन्यस्वभाव में ही अपने आपका श्रद्धान करता है । ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव अमूढ़दृष्टि है । मोक्ष के मार्ग में उसके निरन्तर तीव्र प्रगति होती रहती है ।

मूढ़ता का द्वैविध्य—अमूढ़दृष्टि अंग में जो यथार्थ है उसे यथार्थ भान किया जाता है । अयथार्थ को यथार्थ मानना मूढ़ता है, इसी प्रकार यथार्थ को अयथार्थ मानना मूढ़ता है । जो वस्तु का वास्तविक स्वरूप है उसको मिथ्या समझना भी मूढ़ता है । चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त अन्य भावों में 'यह मैं हूँ' इस प्रकार की बुद्धि होना भी मूढ़ता है । यद्यपि रागादिक भावों का कर्ता आत्मा को अशुद्ध निश्चयनय से बताया है किन्तु वहाँ जीव के स्वरसतः स्वभाव से रागादिक भावों को जीव करता है ऐसी दृष्टि नहीं है, पर इस कर्तृत्ववादी की जो कि रागादिक को करने वाला आत्मा को कहते हैं वे स्वभाव से करने वाला मानते हैं, और इनकी दृष्टि में रागादिक कभी छूट नहीं सकते । रागादिक का मंद हो जाना इनके मंतव्य में बैकुण्ठ है, मोक्ष है, और इसी कारण जब उस उपशांत रागादिक भावों की व्यक्ति होती है तब उसे बैकुण्ठ से आना पड़ता है, फिर संसार में जन्म-मरण लेता है । इस कर्तृत्ववादी की दृष्टि में आत्मा कदाचित् सर्वथा सर्वदा के लिए रागरहित हो सकता है, यह दृष्टि में नहीं है, यह यथार्थ को अयथार्थ मानता है और अवास्तविक को वास्तविक माना है, किन्तु ऐसी मूढ़ता जिन अन्तर-आत्माओं में नहीं है वे अंतरात्मा अपने को शुद्ध केवल ज्ञायकस्वरूप ही अनुभवते हैं ।

नयचक्र की गहनता—भैया ! नयवादों का प्रकरण बहुत गहन है । इस नयचक्र के गहन वन में उलझे हुए मंतव्य कभी अपने सम्मान की ओर नहीं आ पाते । जीव में परिणतियां होती हैं, और किन्हीं का मंतव्य है कि जीव में परिणतियां नहीं भी होती हैं । ये दो पक्ष सामने है, और दृष्टिभेद से ये दोनों पक्ष सही हैं ।

जीव में परिणतियां होती हैं यह देखा जाता है स्वभाव से दूर दृष्टि रखने पर, और जीव में परिणतियां होती ही नहीं हैं यह देखा जाता है जीव के स्वभाव को लक्ष्य में लेने पर । इन रागादिकों का करने वाला जीव है तो एक पक्ष में रागादिकों का करने वाला जीव नहीं है । जीव रागादिकों का कर्ता है—यह परिज्ञान अद्वैत दृष्टि से होता है । एक अद्वैत वस्तु को देखते आए और उसके परिणमन को निरखते हुए में जब यह प्रश्न उठता है कि इन रागादिकों का कर्ता कौन है, जब उसे अन्य वस्तु दृष्ट नहीं होती है तब अभेद षट्कारक के प्रयोग से रागादिक का कर्ता जीव को बताता है, और जब जीव के सुरक्षित स्वभाव में कुछ भंग न डालने का आशय है और रागादिक का कर्ता बताना है तब निमित्तदृष्टि को प्रधान करके उत्तर आता है कि रागादिकों के करने वाले कर्म हैं ।

पर्यायों के नियतपने व अनियतपने में नयविभाग—ये जीव में रागादिक पर्यायें जब जो होनी होती हैं तब ही होती हैं । यह जीव में नियत है, बद्ध है ऐसा भी परिज्ञान होता है और जीव में रागादिक पर्यायें नियत नहीं हैं, बद्ध नहीं हैं, अनियत हैं ऐसा भी परिज्ञात होता है ।

पर्यायों में नियतपने की दृष्टि—जब काललब्धि और सर्वज्ञ ज्ञान को दृष्टि में लेते हैं तब वहाँ यह विदित होता है कि जीव में अदल-बदल करना, पुरुषार्थ करना, किसी भी प्रकार जो कुछ भावीकाल में होगा जीव करेगा वह सब सर्वज्ञ के ज्ञान में विदित है । अथवा अवधिज्ञानी जीव भी जान जाता है तो उस समय वह होगा इसमें शक नहीं है । उस ज्ञान की ओर से देखते हैं तो जगत में सब कुछ नियत है, अथवा कुछ भी हो कल या परसों, जो कुछ भी होगा उस समय में वह उस समय में है, ऐसा काल की दृष्टि से देखते हैं तो पर्याय नियत है, बद्ध है, पर वस्तु की ओर से जब देखते हैं जो कि वास्तविक दृष्टि है उस वस्तु में तो प्रत्येक समय एक ही पर्याय बद्ध होती है, तन्मय होती है ।

पर्यायों के समुदाय में द्रव्यपने की दृष्टि—हाँ, इस दृष्टि से कि चूंकि पदार्थ है तो वह किसी भी समय में परिणमन बिना नहीं रहता । कोई काल ऐसा नहीं आयेगा जिस समय में वस्तु का परिणमन न रहे । अनन्तकाल है, तो अनन्त समयों में अनन्त परिणमन हैं ही इस पदार्थ के । कोई-सा भी परिणमन बीच में टूटता नहीं है कि वस्तु परिणमती रहे और किसी मिनट परिणमन बंद कर दे, बाद में फिर परिणमने लगे, ऐसी टूट परिणमन परम्परा में नहीं है । इस कारण यह कह दिया जाता है कि द्रव्य त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायों का पिण्ड है । इस कारण पदार्थों में वे सब पर्यायें नियत साबित होती हैं, पर इस दृष्टि से पर्यायों का नियतपना सिद्ध नहीं होता । किन्तु परिणमन सामान्य कुछ भी हो, परिणमन शून्य द्रव्य नहीं हुआ करता है । सो उन पर्यायों का समुदाय द्रव्य है यह बात घोषित होती है ।

पर्यायों के अनियतपने व नियतपने की दृष्टि—पदार्थ में तो प्रत्येक समय एक पर्यायबद्ध है, तन्मय है । उस उपादान में जितनी योग्यताएं बसी हैं उन योग्यताओं में से किसी भी योग्यता के अनुकूल जैसा सहज निमित्त का योग होता है यह उपादान अपनी स्वतंत्रता से अपने में परिणमन करता है । इसमें भावी काल में अमुक पर्याय होगी, ऐसी बद्धता द्रव्य के अन्दर नहीं है । इस दृष्टि से पदार्थों में विभावपरिणमन अनियत है ।

जो शुद्ध आत्मा हुए हैं उनमें अवश्यंभावी अनन्त पर्यायें नियत हैं, और वे नियत इस कारण हैं कि वे शुद्ध आत्मा हो चुके हैं और आगामी काल में किसी भी समय अशुद्ध नहीं हो सकते हैं। तो शुद्ध का परिणमन का तो एकरूप चलता रहता है सो एक रूप ही चला करता है, अपने आप ही यह नियत शुद्ध हो जाता है। यह नयचक्र बहुत गहन है, इसमें प्रत्येक तत्त्व स्याद्वाद की दृष्टि से सुलझता है।

अनुभव की निर्विकल्पता—हां अनुभव अवश्य ऐसा है कि उसमें स्याद्वाद का प्रयोग नहीं होता है क्योंकि अनुभव एक अभेद अवस्था है। वहाँ किसी भी नय-विकल्प का अवकाश नहीं है। और नय-विकल्प का ही अवकाश नहीं है ऐसा नहीं है किन्तु प्रमाण, निक्षेप और-और भी उपाय जो वस्तु के परिज्ञान के हैं उन सबका भी प्रयोग अनुभव दशा में नहीं होता है।

अमूढ़ सुदृष्टि का प्रताप—भैया ऐसे अलौकिक स्वानुभव को प्राप्त कर चुकने वाला सम्यग्दृष्टि पुरुष किन्हीं पदार्थों में कैसे मोह को प्राप्त हो सकता है? जैसे किसी घटना से पूर्ण परिचित है ऐसा मनुष्य किसी भी वाद संवाद में भी च्युत नहीं हो सकता है, और जो घटना से अपरिचित है, किसी की सिखाई हुई बातें वह बोलता है तो किसी भी प्रकरण में उसे च्युत कर दिया जा सकता है। यह चैतन्यस्वभाव का रुचिया ज्ञानस्वभाव से उत्पन्न हुए आनन्द को भोगने वाला सम्यग्दृष्टि मूढ़दृष्टिकृत बंध को नहीं प्राप्त होता, किन्तु किसी पदार्थ में मोह नहीं है, अज्ञान नहीं है, यथार्थ-अयथार्थ ज्ञाता है इस कारण निर्जरा ही होती है। इस प्रकार अमूढ़दृष्टि अंग का वर्णन करके उपगूहन अंग का वर्णन करते हैं।

गाथा २३३

जो सिद्धभक्तिजुत्तो उवगूहणगो हू सव्वधम्माणं ।

सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३३॥

उपगूहन अंग के लक्षण में यह बात बतलाते हैं कि जो सिद्धभक्ति सहित सर्व धर्मों का उपगूहक है उसे उपगूहक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

सिद्ध और सिद्धभक्ति—सिद्ध शब्द से दो विषयों में लक्ष्य पहुंचता है। एक तो जो अष्टकर्मों से रहित अनन्त ज्ञानादिक गुणों से सहित निर्लेप सिद्ध परमात्मा है वह सिद्ध कहलाता है। और इस आत्मा का जो सहज स्वरूप है चूंकि वह असिद्ध नहीं है, परतः सिद्ध नहीं है, किन्तु अपने ही सत्त्व के कारण, परिपूर्ण केवल अंतःप्रकाशमान अनादि अनन्त अविनाशी है वह भी सिद्धस्वरूप कहलाता है। इसके परिणमन की ओर दृष्टि दें तब यह सिद्धस्वरूप लक्ष्य में नहीं रहता। जो निश्चय से इस ध्रुव परमपारिणामिक भावमय चैतन्यस्वभाव की भावनारूप वास्तविक सिद्ध भक्ति को करता है वह जीव मिथ्यात्व रागादिक विभाव धर्मों का उपगूहक है, प्रच्छादन करने वाला है, अर्थात् विनाश करने वाला है, उसे उपगूहक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

व्यवहार उपगूहन का तात्पर्य—भैया ! उपगूहन अंग का साधारणतया यह अर्थ किया जाता है कि धर्मों पुरुषों के दोषों को प्रकट न करना। प्रकट न करना—इसका अर्थ यह है कि उनके दोषों को दूर करना, नष्ट

करना । धर्म धारण करने वाला भी कोई किञ्चित् दोषी होता है, पर इसका भाव यह नहीं है कि धर्मी में दोष हैं तो उन्हें ढके जाओ और बने रहने दो और मानते जाओ—यह उसका भाव नहीं है । उपगूहक का अर्थ है दोषों का विनाश करनेवाला । उसमें यह कर्तव्य आ जाता है कि जनता में धर्मात्माओं के दोषों को प्रकट न करें, क्योंकि उससे धर्म पर लांछन आता है और लोग यह कह सकेंगे कि इस धर्म वाले तो ऐसे दोषी होते हैं । तो इस उपाय ने उस धर्मात्मा पुरुष के दोषों को नहीं ढका किन्तु धर्म में दोष न लग पायें, दुनिया की दृष्टि में धर्म दोषयुक्त न कहलाये, इस बात पर यत्न किया है उस सम्यग्दृष्टि जीव ने ।

ज्ञानी का गुणविनय—सम्यग्दृष्टि जीव व्यक्तिगत रूप में तो उसका महत्त्व नहीं देता । किसी भी व्यक्ति को ज्ञानी पूजता है तो व्यक्ति के नाते नहीं पूजता, किन्तु धर्म के नाते पूजता है । पंचपरमेष्ठी हैं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु । इनमें किस व्यक्ति को पूजें? किसी का नाम देखा नहीं है । नाम लेकर भी जो वंदन करते हैं भरत का, बाहुबलि का, ऋषभदेव का, महावीर स्वामी का, रामचन्द्रजी का—जितने भी सिद्ध हुए हैं उनका नाम लेकर जो विनय करते हैं वह व्यवहारदृष्टि से है । नाम की मुख्यता ले करके वह विनय नहीं है किन्तु अनन्त गुण सम्पन्न आत्मा के शुद्ध विकास को दृष्टि में लेकर वंदन करें तो वह वंदन और विनय है ।

भगवंत अरहंत—अरहंत सिद्ध उस कहते हैं जो पूज्य हो । जिसने चार घातिया कर्मरूपी शत्रुओं को नष्ट कर दिया हो, रागादिक विभावों से जो सदा के लिए मुक्त हो गया है किन्तु जब तक उसके घातिया कर्मों के सहायक अघातिया कर्मों का उदय है तब तक वह अरहंत प्रभु कहलाता है । अघातिया कर्म जीव के गुणों का घात नहीं करते, किन्तु जितने काल तक जीव के गुणों का घात करने वाले घातिया कर्म रहते हैं उतने काल तक उन घातिया कर्मों को उतने घात के काम में सहायक होता है । सो घातिया कर्म जब नहीं रहे तब अघातिया कर्म इस जीव के गुणघात में सहायक तो नहीं किन्तु पूर्वबद्ध कर्म हैं तब तक उनकी स्थिति है, वे कर्म रहते हैं । जब तक अघातिया कर्म हैं और घातिया कर्म तो हैं ही नहीं तब तक उन्हें अरहंत कहते हैं । हमारे देव अरहंत हैं । इसमें किसी नाम का पक्ष नहीं है । केवल शुद्धविकास का पक्ष है जैन सिद्धान्त में । किन्तु इस लक्ष्य की जब मुख्यता हमारी व्यावहारिकता में न रही तो अन्य मंतव्यों—जैसे नाम की मुख्यता रखकर अपना पराया जो बनाया है, इस विधि में लोग कुछ जुगुप्सा की दृष्टि से या अनमेल की दृष्टि से निरखने लगे हैं । सो यह विवाद तो संसार में अनादि से ही चला आया है ।

ज्ञानी की स्वरूपपूजा—जैन सिद्धान्त में स्वरूप की पूजा है, गुणों की पूजा है, किसी व्यक्ति की पूजा नहीं है । भगवान ऋषभदेव मरुदेवी के नन्दन थे, नाभि के नन्दन थे, इस कारण वे बड़े हैं ऐसा जैन सिद्धान्त नहीं मानता । महावीर प्रभु सिद्धार्थ के नन्दन थे इस कारण हम उन्हें नहीं मानते हैं किन्तु उस भव में स्थित आत्मा ने ऐसे स्वभाव का आश्रय, आलम्बन ध्यान किया कि जिसके प्रताप से चार घातिया कर्म नष्ट हुए और अघातिया नष्ट हुए, आत्मा सिद्ध हो गया । इस कारण से मानते हैं । तो जिस कारण से मानते हैं उस कारण में नाम नहीं लगा है । नाम के कारण हम किसी को नहीं मानते हैं । यह तो गुणों की पूजा है, शुद्ध विकास

की पूजा है ।

दोष के उपगूहन का कारण—भैया ! जिसे स्वभावदृष्टि की रुचि है वह उसमें भंग नहीं चाहता । जिसके जिसमें रुचि है वह उसमें लांछन नहीं लगाने देता । किसी धर्मात्मा के दोष प्रकट थे । करने से कहीं यह बात नहीं है कि उस नाम वाले धर्मात्मा से उस साधर्मी को प्रेम है इसलिए वह दोषों को प्रकट नहीं करता, किन्तु रत्नत्रयरूप धर्म में उसे प्रेम है इसलिए वह दोष प्रकट नहीं करता । लोग यह ग्रहण करेंगे कि इस धर्म में तो ऐसा ही हुआ करता है । यह काहे का धर्म है? ऐसे धर्म की निन्दा, धर्म का लांछन लगा इस कारण उस धर्मात्मा को दोष न लगने दें । और फिर जीवों की दृष्टि दोष ग्रहण करने की है । हुआ दोष तो ग्रहण करे, न हुआ दोष तो भी चूँकि दोषमय जगत है, तो इस कारण न किया हुआ दोष भी दोषरूप में उपस्थित करने की आदत बनी हुई है, ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष किसी भी धर्मात्मा के दोष प्रकट करने की भावना नहीं करता ।

उपगूहन का तात्पर्य—उपगूहन का अर्थ ढाकना नहीं है किन्तु उपगूहन का अर्थ जनता के उपयोग के मैदान से उन दोषों को दूर किए रहना है । ऐसे जो जीव धर्मरुचिक हैं, धर्मात्माओं के धर्म के, सर्व धर्मों के उपगूहक हैं अर्थात् निन्दा दोषों के उपगूहक हैं वे उपगूहन अंग वाले हैं । केवल निश्चयदृष्टि में चलें तो जीव में उत्पन्न होने वाले जो मिथ्यात्व रागादिक दोष हैं विभावरूप धर्म हैं, उन धर्मों का वह प्रच्छादन करता है, हटाता है । प्रभु की ज्ञानभूमि से उन दोषों को हटाता है वही वास्तविक उपगूहन अंग वाला सम्यग्दृष्टि है ।

उपवृंहण का तात्पर्य—अथवा इसका दूसरा नाम है उपवृंहण । चूँकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभावमय है इस कारण समस्त आत्मशक्तियों का वर्द्धनशील होने से यह सम्यग्दृष्टि जीव उपवृंहक है, इसमें अपनी आत्मशक्ति की दुर्बलता नहीं है साहस है इसमें । कितने ही कर्मों का तीव्र उदय आये, सब परिस्थितियों में इसके यह साहस बना हुआ है कि यह अपनी आत्मशक्ति का वर्द्धन करे, अतः आत्मशक्ति का उपवृंहण करने वाला यह ज्ञानी है ।

ज्ञानी की उपगूहनता और उपवृंहणता का फल—यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के दोषों का विनाशक है; प्रच्छादक है यह सम्यग्दृष्टि मिथ्यात्व रागादिक विभावों का विनाशक है, यह सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तियों का उपवृंहक है, प्रगति में अपने आपको ले जाने वाला है, इस कारण इसके उपगूहन रूप असावधानीकृत बंध नहीं होता अथवा अपनी शक्ति की दुर्बलता से होने वाला बंध इस सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होता, जब न अनुपगूहन का दोष रहा, न दुर्बलता का दोष रहा तो कर्मों की निर्जरा ही इसके उस गुण के कारण होता है । किसी भी संकट में बंधन में यह जीव पड़ा हो उसके बंधन और संकट मिटने के उपाय चाहे व्यवहार में नाना हों, पर उन सब व्यवहारों का प्रयोजनभूत पारमार्थिक उपाय केवल एक ही है, वह है शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहना ।

ज्ञाता रहने का विधि और निषेधरूप में वर्णन—शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहने की स्थिति में विधि और निषेध के ये दो कार्य चलते हैं । विधि के कार्य में निज ज्ञायकस्वभाव का निर्दोष परिणमन है और निषेधरूप कार्य में रागादिक दोषों का निवारण है, उपाय एक है, उस उपाय को जब विधि रूप से कहते हैं तो यह कहना

चाहिए कि निज ज्ञायकस्वभाव का दर्शन, अवलोकन, विश्वास, प्रत्यय, अवगम और उसी में रत रहना—ये उपाय है संकटों से मुक्त होने के और जब निषेधरूप से वर्णन करेंगे तब यह कहा जायेगा कि मोह न करना, राग-द्वेष न करना, विषय कषायों में न पड़ना—ये सब उपाय है संकटों से दूर होने के । ये भी उपवृंहण और उपगूहन के रूप में विधि निषेधरूप दो प्रकार से बताये गये हैं ।

ज्ञानी का उपगूहन अंग में कर्तव्य—इस सम्यग्दृष्टि जीव की शक्ति की दुर्बलता से होने वाला बंध नहीं है किन्तु अपनी शक्ति की संभाल के कारण और किसी परदृष्टि में न उलझने के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है । उपगूहन का अर्थ है छिपाना । तो निश्चय की प्रधानता में इसका अर्थ यह हो गया कि अपने उपयोग को परमार्थ सिद्धस्वरूप चैतन्य भाव में उपयोग लगाओ और इसके अतिरिक्त मिथ्यात्व रागादिक जो भाव हैं उनका उपगूहन करें और व्यवहार में यह अर्थ है कि अपने मन की प्रगति में शक्ति बढ़ाएँ और धर्मात्मा जनों के दोषों को जनता में प्रकट न करें सो यह उपगूहन अंग है । यह अंग सम्यग्दर्शन का उन मुख्य अंगों में से एक अंग है ।

उपगूहन अंग के पालक जिनेन्द्रभक्त सेठ—उपगूहन अंग में जिनेन्द्रभक्त सेठ प्रसिद्ध हुए हैं, उनकी ऐसी कथा है कि महल में एक विशाल चैत्यालय बना हुआ था । वहाँ किसी चालाक आदमी ने देख लिया कि इस चैत्यालय में एक मणि जड़ित छत्र है, तो सोचा कि इसको चुराया कैसे जाये? सोचते-सोचते एक युक्ति ऐसी आयी कि ब्रह्मचारी या क्षुल्लक बन जायें, कुछ दिनों तक यहाँ रहें, जब इनको विश्वास हो जाये तो किसी समय अवसर मिल सकता है कि इसको चुरा ले जायें । सो वह बन गया क्षुल्लक, मंदिर में रहने लगा । बहुत दिनों के बाद जब जिनेन्द्रभक्त को कहीं बाहर जाना था तो सब कामकाज चाबी क्षुल्लकजी के सुपुर्द कर दिया और चल दिया । इसने यह देखा कि अब अवसर है उसे तो वह कीमती छत्र चुराना था, उसे चुराया और रात्रि को वहाँ से चल दिया । वह तो जा रहा था और उस चमकते हुए छत्र को देखकर कोतवाल ने पीछा किया और उसे पकड़ भी लिया । इतने में सामने से जिनेन्द्रभक्त भी आ रहे थे । जब मामला उन्होंने जाना तो जिनेन्द्रभक्त कहता है कि यह तो हमीं ने बुलाया था । यद्यपि बात ऐसी नहीं है किन्तु आशय तो देखो कि जिसमें यह बात बसी हुई है कि धर्म में लांछन न लगे । कोई लोग यह न जानें कि जिनधर्म के धारण करने वाले पुरुष ऐसे हुआ करते हैं । केवल धर्म के लांछन को उपगूहित करने के लिए उन्होंने यह किया । उसके आशय में कहीं उस व्यक्ति से अनुराग न था कि उसे बचाना है । केवल लोक में धर्म को लांछन न लगे, इस आशय से किया था ।

स्वरूप के रुचियों का स्वरूप को अलाञ्छित रखने का प्रयत्न—भैया ! उपगूहन अंग में यह आशय रहता है कि लोगों की दृष्टि में यह धर्म मलिन न समझा जाये । ऐसे इस संसार संकट से सदा के लिए मुक्त करा सकने वाले धर्म की भक्ति में जो ज्ञानी पुरुष रहे हैं वे धर्म के स्वरूप में लांछन नहीं सह सकते । और परमार्थ से जो शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र निज परमात्मप्रभु है उस प्रभु के गुणों का रुचिया ज्ञानी पुरुष अपने आपकी भूमिका में उत्पन्न होने वाले विभाव लांछनों को नहीं सह सकता । जैसे व्यवहार में ज्ञानी पुरुष धर्म

के लांछनों को दूर करता है इसी प्रकार निश्चय से अपने आपके आत्मा में से विभावरूप लांछनों को दूर करता है और इन दोषों को दूर करने का स्वभाव इस आत्मा में है ।

सम्यग्दृष्टि की उपवृंहकता—इस उपगूहक सम्यग्दृष्टि के ऐसा उत्साह बना रहता है । समस्त आत्मशक्तियों को बढ़ाने का स्वभाव रखने से और विकास का यत्न करने से इस सम्यग्दृष्टि का नाम उपवृंहक भी है । इस जीव के शक्ति की दुर्बलता से होने वाला बंध नहीं होता है किन्तु निर्जरा ही होती है, इस प्रकार उपगूहन अंग का वर्णन करके अब स्थितिकरण अंग का वर्णन किया जा रहा है ।

गाथा २३४

उम्मगं गच्छंतं सगं पि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।

सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३४॥

उन्मार्ग में जाते हुए अपने आत्मा को भी जो सन्मार्ग में स्थापित करता है वह ज्ञानी स्थितिकरण गुण सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।

ज्ञानी के स्थितिकारिता—जिसे अपने आत्मा के सत्य स्वभाव का परिचय होता है ऐसा पुरुष निश्चल होकर अपने आपको और दूसरे प्राणियों को मार्ग में स्थित बनाने का यत्न करता है । कोई पुरुष तन के दुःखों से ऊबकर धर्म को छोड़कर उन्मार्ग में जाता हो तो उसके दुःख मिटाने का और धर्ममार्ग में लगाने का ज्ञानी, साधर्मी बड़ा प्रयत्न करता है । इस ज्ञानी के लिए जगत के सब जीव एक समान हैं, और जिन जीवों के धर्म की ओर प्रेम है, मोक्ष के लिए यत्न है, मोह रागद्वेष परिणाम को दूर रखने का यत्न करते हैं ऐसे ज्ञानी जीवों की इस ओर प्रीति बढ़ती है । कदाचित् वे दुःखी होकर धर्ममार्ग को छोड़कर कुमार्ग में जाने लगे तो ज्ञानी संत उनको धर्ममार्ग में स्थापित करता है । कोई मानसिक दुःखों से दुःखी होकर धर्ममार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में जाने वाला हो तो उसे धर्ममार्ग में स्थित करता है । गरीबी आदि के कारण परेशान होकर जो धर्ममार्ग को छोड़कर उन्मार्ग में जाने लगता है उसको धर्म में स्थिर करता है । ऐसे उन्मार्ग में जाते हुए अन्य पुरुषों के धर्ममार्ग में स्थित करने का इस ज्ञानी पुरुष के उत्साह है ।

उन्मार्गगामियों का कर्तव्य आत्मसावधानी—निश्चय से उन्मार्ग में जाते हुए अपने आपको धर्ममार्ग में स्थित करने की इस ज्ञानी में अलौकिक कला है । उन्मार्ग में जाने वाले इन अनेक कुमार्गियों में इतना महान् अन्तर है कि कोई पुरुष तो ऐसा होता है कि उन्मार्ग में जा रहा हो तो भी ध्यान रहता है कि यह खोटा मार्ग है और सच्चे मार्ग की खबर रहती है, किन्तु अनेक जीव तो ऐसे पड़े हुए हैं कि खोटे मार्ग में लग रहे हैं और बुद्धिमानी समझ रहे हैं, उससे विमुख रहने का ध्यान नहीं होता । यह उन्मार्ग खोटा मार्ग, विषय कषायों का मार्ग कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म की प्रीति व सेवा करने का मार्ग इस जीव को भव-भव में क्लेश का कारण है । अज्ञानी ही धर्ममार्ग से च्युत होकर कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु में लगता है । कर्मों का उदय विचित्र होता है । उनका निमित्त पाकर यह जीव करता तो है स्वयं की परिणति से ही विकार, किन्तु वे विकार भी विचित्र होते

हैं । कैसी धुनि बन जाये, किस ओर दृष्टि लग जाये?

परमार्थ और व्यवहार स्थितिकरण—सो भैया ! मैं इन विषय-कषायों से दूर हटूँ । और अपने आपकी ओर अभिमुख होने लगूँ ऐसे अपने आपमें अनेक विवेकपूर्ण यत्न करके आत्मस्वभाव की दृष्टि का बल बढ़ाकर उन विषय-कषायों से अपने को अलग रखने का यत्न करना चाहिये । इस आत्मा को इस आत्मा के स्वभाव के ज्ञान विकास में लगाना और ज्ञाता द्रष्टा रहने की स्थिति बनाए रहना यही वास्तविक स्थितिकरण है । और व्यवहार में ऐसे साधन बना देना जिन साधनों में रहकर कुछ निश्चित रहकर यह जीव अपनी बुद्धि को सही रखे और धर्म में स्थिर गति करे—वह है व्यवहार का स्थितिकरण । जो जीव उन्मार्ग में जाता हुआ खुद को धर्ममार्ग में स्थापित करता है उसे स्थितिकरण अंग का पालक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए ।

उन्मार्ग और सन्मार्ग—उन्मार्ग है मिथ्यात्व रागादिक विभाव और सन्मार्ग है निज शुद्ध सहज स्वभाव की दृष्टि । निज सहज शुद्धस्वभाव क्या है? ज्ञानमात्र चैतन्यस्वरूप शुद्ध का अर्थ है कि जो सत् आत्मा है उस आत्मा के ही नाते उस सत्त्व के ही कारण आत्मा में जो कुछ भाव होता है उसे कहते हैं सहज शुद्ध स्वभाव । अपने से भिन्न पर का नाम सहजभाव नहीं है । पर के गुणपर्याय का नाम सहज भाव नहीं है और पर का निमित्त पाकर उत्पन्न हुए विकारपरिणामों का नाम सहजभाव नहीं है, किन्तु अपने ही स्वभाव से अपने ही सत्त्व के कारण केवल जो अपने में भाव है उसका नाम सहजभाव है । यह इसकी दृष्टि, इसका आलम्बन इसकी ओर झुकाव यही सन्मार्ग है ।

संकटों से छूटकारा पाने का उपाय सन्मार्ग का आश्रय—जीव संकटों से छूट सकता है तो सन्मार्ग का आश्रय करके ही छूट सकता है । वैसे भी कुछ-कुछ अनुमान किया जाये, अंदाज किया जाये तो जब यह विकल्पों से दूर बाहरी पदार्थों की दृष्टि और स्मरण से विराम लेता है और अपने आपमें एक निर्विकल्प स्थिति को पाता है उस समय में यह शून्य नहीं रहता । आत्मा का ज्ञान सद्भूत गुण है । वह परिणमन शून्य कभी नहीं रह सकता । तो उस समय ज्ञान का एक ज्ञान को ही जानने में एक साधारण सामान्य परिणमन चल रहा है, उस समय जो इसे निराकुलता मिलती है वह निराकुलता किन्हीं भी बाह्य पदार्थों के प्रसंग में नहीं मिल सकती । वास्तविक स्थितिकरण है रागादिक उन्मार्गों से हटाकर शुद्ध ज्ञानस्वभाव के आश्रय को लेना और अभिमुख रहना, यही है परमार्थ से स्थितिकरण ।

मोहियों का लौकिक स्थितिकरण का यत्न—अहो ! लोक में जीवों ने अपनी ही स्थिति मजबूत बनाने के लिए बहुत-बहुत काम किए । बहुत अच्छी आर्थिक स्थिति बना लें जिससे कभी क्लेश न आएँ, ऐसे ही कितने ही मकान खड़े कर लें जिनका इतना भरपूर किराया आए कि किसी भी प्रकार के मौज में अथवा लोगों के उपकार में भी लगाने में कमी न आ सकेगी । शरीर की स्थिति, धन की स्थिति, वैभव की स्थिति मजबूत बनाने का इस जीव ने यत्न किया सो वैभव की ओर ही दृष्टि होने से इस जीव ने अपने आपमें क्या लाभ लिया? लाभ को देखा जाये तो स्वयं ही वह अस्थिति में हो गया है, बुरी परिस्थिति में आ गया है । मन कमजोर हो गया, आत्मबल घट गया । अचानक कोई विपत्ति आए तो उसमें अधीर हो जायेगा ।

अस्थिति का परभव में फल—अंत में पर्यायव्यामोही जीव ने जैसा जीवनभर भाव बनाया उससे उपार्जित जो कर्मबंध है उसके विपाककाल में मरण बाद तो एकदम सही फैसला हो जाता है । यहाँ धन के कुछ प्रताप से दान देकर या कोई बड़े-बड़े उत्सव समारोह आदि मनाकर अपने भावों में जो कमजोर भाव हुए उनको छिपाया जा सकता है, किन्तु मरण के बाद अब क्या छिपायेंगे ? एक-दो तीन समयों में ही यह ऐसे शरीर धारण कर लेगा जैसा कि इसका परिणाम हुआ होगा । कीड़ा बन जाये, पशुपक्षी बन जाये, पेड़ पौधा बन जाये अब क्या करेगा? अभी तो करोड़पति थे, बड़ी पोजीशन के थे, बड़ा प्रताप छाया था, लोग हाजिरी में बने रहा करते थे । अब एकदम क्या हो गया? यदि अपने आपकी परमार्थ स्थिति का ध्यान नहीं हो और इस मनुष्यजन्म को पाकर भी न ऊँचे समागम में रह सके, न ऊँचे पद में रह सके तो वह गिरने का ही काम करेगा ।

ज्ञानी का पुरुषार्थ—अपने आपके रागादिक भ्रम विकल्पों को दूर करके अपने आपको शुद्ध सहज चैतन्यस्वरूप में स्थिर करना सो स्थितिकरण अंग है । न कुछ सोचे बाहरी बातें, न कुछ देखे शरीर आदिक बाहरी प्रसंग । मन, वचन, काय को स्थिर करके उनका भी उपयोग दूर करके क्षणिक विश्राम से स्थित होकर जो अपने आपमें एक ज्ञानविकास नजर आता है, जानन में आता है उस विकासरूप अपने आपको बनाए रहना, यही वास्तविक स्थितिकरण है । यह जीव इन रागादिक उन्मार्गों में उठते हुए अपने आत्मा को परमयोग के अभ्यास के बल से शिवमार्ग में स्थापित करता है।

परमयोग—वह परमयोग क्या है? यद्यपि व्यवहार से इस ध्यान के सहायक नाना प्रकार के ध्यान बताए गए हैं, अन्य धारणाएं बतायी गई हैं । उन प्राणायाम प्रत्याहार आदि उपायों द्वारा चित्त को स्थिर करने का विधान बताया है । बहुत सीधी सरल स्थिर मुद्रा से पद्मासन से बैठकर एक अपने आपके हृदयस्थान अष्टदल कमलदल का विचार करके उनके जाप करने का या कुछ सोचने का या इस ज्ञानस्वरूप को केन्द्रित करने का उपाय करके एक जगह ठहराया । मायने नाभि कमल में और ऐसा विचार बना कि इस ज्ञानदृष्टि रूप अग्निकण में ऐसा प्रताप प्रकट हुआ है कि ये कर्म ध्वस्त होते रहते हैं । ऊपर के कर्म का औंधा कमल ध्वस्त हुआ, इस तरह अनेक प्रकार की योग स्थितियाँ भी गई, किन्तु उन योग स्थितियों का प्रयोजन है निज शुद्ध सहज चैतन्यस्वभाव की दृष्टि, अर्थात् बाह्य विकल्प छोड़कर निर्विकल्प स्थिति में जो ज्ञान को न पकड़ सकने वाला विकास होता है अर्थात् विकल्प न किया जा सकने वाला विकास जो मेरे ग्रहण में तो है किन्तु न अभी ग्रहण विकल्प में है और न पीछे वह ग्रहण किया जा सकता है, ऐसे शुद्ध ज्ञानविकास की स्थिति में बने रहना यही समस्त योग अभ्यासों का उद्देश्य है । तो परम योग है इसी शुद्ध ज्ञायकस्वभाव की अभेद उपासना ।

शिवमार्ग—इस परमयोग के अभ्यास के बल से जो अपने आपको शिवमार्ग में स्थापित करता है वह स्थितिकरण युक्त सम्यग्दृष्टि है । वह शिवमार्ग क्या है ? निज शुद्ध आत्मा की भावना करना । भावना में और ज्ञान में याने साधारणतया जानने में यह अन्तर है कि साधारण जानने में तो जैसा जान गए तिसरूप अपने

को कुछ बनाने का यत्न न होना, वह तो एक साधारण विज्ञान है। और इस ज्ञान की भावना का अर्थ यह है कि जिस ज्ञान का सहज स्वरूप है उस प्रकार ज्ञान में लगना और उस तरह अनुभवन करना, तन्मात्र अपने आपका परिणमन करना ऐसा जो यत्न है उसे भावना कहते हैं। ऐसे निज शुद्ध आत्मा की भावना का नाम है शिवमार्ग। ऐसे कल्याणमार्ग में जो अपने आपको निश्चल स्थापित करता है उस सम्यग्दृष्टि को स्थितिकरण युक्त समझना चाहिए।

अपना ठिकाना न मिलना ही क्लेश—भैया ! जीव को और क्लेश क्या है? ठिकाना न रह पाना। यह निज में अस्थित जीव बाहर जहां-जहां अपने साधन ढूँढ़ता है, विश्राम करता है वह परमार्थ से विश्रामों का साधन तो है नहीं। वहां तो यह लग ही नहीं सकता। कल्पना में मानता है, सो वे विनाशीक पदार्थ जब नष्ट होते हैं तब इसे क्लेश होता है। कोई पुरुष जीवनभर साधारण धन में गरीबी मानकर दुःखी होने लगे और कोई पुरुष खूब धन कमाकर अपने जीवनभर धनी होने के गौरव का मौज ले तो इसने तो कई वर्षों तक थोड़ा-थोड़ा करके दुःख भोगा है पर उस बाह्यदृष्टि में धन के मौज में चाहे जीवनभर दुःख न भोगा हो, पर अंत में जब वियोग होता है तो मानो सारे जीवन के सुख के एवज में एकत्रित होकर एकदम दुःख टूट पड़ता है, वह विकल्पों में बड़े संक्लेश करता है। तो किस पदार्थ का संयोग हमें ठिकाने रख सकता है? जिस पदार्थ की शरण में जाओ वहाँ से उस पदार्थ की ओर से फुटबाल की तरह ठोकर मिलती है।

अस्थित पुरुष की फुटबाल की तरह अशरणता—जैसे फुटबाल जिसके पास पहुंचता है वह उसको रखने के लिए नहीं ग्रहण करता है बल्कि आते ही झट लात मार दिया, हाथ मार दिया। जैसे ही फुटबाल उस बालक के पास पहुंचा वैसे ही उससे ऐसा उत्तर मिलता है कि क्षणभर को भी उसके पास नहीं ठहर पाता है, उसे यत्र तत्र डोलना ही पड़ता है। इसी तरह रागादिक भावों की हवा से भरा हुआ यत्र तत्र ठौर ठिकाने डोलता हुआ यह जीव जिस पदार्थ की शरण में जाता है अर्थात् यह अपने उपयोग में जिस पदार्थ को सहाय मानता है जिसे रखता है, जिसके पास ठहरता है, उस पदार्थ की ओर से तुरन्त ही और तुरन्त तो क्या पहिले से ही उत्तर बना हुआ था, जवाब मिल जाता है। उस पदार्थ में कोई परिणति, कोई आत्म स्थिति की बात उत्पन्न नहीं होती है। कैसी ही कल्पना से कैसे ही पदार्थों के निकट ठहरकर मौज मानते रहे, वह हमारे कल्पना की बात है किन्तु किसी पदार्थ ने मुझे आश्रय नहीं दिया, मुझे शरण नहीं दिया, मेरा सुधार नहीं किया।

मेरे ठिकाने का आश्रय—परपदार्थ मेरा कुछ कैसे करें? प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने चतुष्टय में सत् है। अपने द्रव्य में हैं, अपने प्रदेशों में हैं, अपनी ही उस भूमि में, प्रदेशों में अपना परिणमन करने वाले हैं, अपने ही गुणों में तन्मय हैं। तो वे पदार्थ अपने से बाहर क्या कर सकते हैं। कहीं वे दूसरों से ग्लानि करके खुदगर्जी में नहीं बैठते हैं किन्तु वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है कि वे हैं और अपने में परिणमते रहते हैं। ये दो उन पदार्थों की खास बातें हैं। ऐसा ही सब पदार्थों में है। तो मैं किस पदार्थ के निकट पहुंचूँ, किसको अपने उपयोग में बसाऊँ कि मेरा स्थितिकरण बना रहे, स्थिरता बनी रहे। ऐसा बाहर में कुछ भी नहीं है कि

जिसको उपयोग में बसाने से कुछ ठीक ठिकाने रह सकें। वह तो तत्त्व है खुद का ही सहज स्वरूप। अर्थात् अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण स्वयं जो कुछ यह है उसको जान ले, समझ ले और उसकी समझ पर ही बना रहे तो इसको ठिकाना मिलता है। अन्यथा तो कहीं भी ठिकाना नहीं है।

बाह्य में ठिकाने का अभाव—भैया ! बाह्य में कैसी भी स्थिति आ जाये, बड़ा राज्यपाट भी मिल जाये मगर यह उपयोग ठिकाने तो नहीं रहता। बड़ी सम्पदा मिल जाये तो भी ठिकाना तो नहीं रहता है। दूसरा पुरुष जब विह्वल होता है और अपने ठिकाने नहीं रह पाता है, अट्टसट्ट अधीरता की बातें किया करता है तब इसके बड़ी जल्दी विदित हो जाता है कि देखो कैसा यह अधीर हो रहा है, अटपटी बातें बोलता है। इसका चित्त ही ठिकाने नहीं है। ऐसे ही हम जितने काम करते हैं वे सब अट्टसट्ट करते हैं। यह बाहर में क्या करेगा? अशुद्ध निश्चय से तो यह अपने विभावपरिणाम करता है, वह भी प्रतिकूल है, आत्मा के स्वभाव के अनुकूल, निराकुलता के अनुकूल कार्य नहीं है। इसी कारण व्यवहार में ऐसी परिणतियां हो जाती हैं जिनमें यह सारा जग झूम रहा है, चल रहा है, विचर रहा है, ऐसी वृत्तियां हो जाती हैं जिनमें ठीक ठिकाने यह जीव नहीं रहता है।

अपने ठिकाने स्थित हुए जीव के बन्ध का अभाव—जो जीव रागादिक रूप उन्मार्ग को छोड़कर शुद्ध ज्ञानस्वभाव की भावनारूप सन्मार्ग में अपने आपको स्थापित करता है वही स्थितिकरणयुक्त सम्यग्दृष्टि पुरुष है। इसके अब अस्थितिकरण नहीं रहा, ठौर ठिकाना भटकना नहीं रहा, इस कारण ठौर ठिकाना भटकने रूप होने वाला जो बंध था वह बंध नहीं होता है—किन्तु अपने आपका ठिकाना स्थिर रहने से, अपने आपके स्वभाव का आश्रय करने से इसके पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है, इस प्रकार परमार्थ से जो जीव अपने आपको स्थित करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरणयुक्त जानना चाहिए।

पुष्पडाल के स्थितिकरण के लिये वारिषेण का यत्न—स्थितिकरण अंग में वारिषेण मुनि प्रसिद्ध हुए हैं। वारिषेण मुनि को आहार कराने के बाद उनके मित्र पुष्पडाल बहुत दूर तक पहुंचाने गए। उन्होंने कितना ही चाहा कि ये मुनिराज मुझे पीछे लौट जाने को कहें किन्तु उनके तो मित्र के उद्धार का भाव था, सो पीछे लौट जाने को नहीं कहा। तब पुष्पडाल का भी कुछ चित्त बदला और मुनि हो गए। मुनि तो हो गए, पर उनको स्त्री का ख्याल सताने लगा। यद्यपि वह स्त्री कानी थी, कोई प्रियवादिनी भी न थी, किन्तु मोह तो है, तब वारिषेण ने उनके अस्थिर चित्तपना को कैसे मिटाया कि स्वयं उन्होंने माँ को खबर भेजी कि आज हम आयेंगे और सब रानियों को शृङ्गार करके तैयार रखना। माँ ने पहिले तो विकल्प किया कि ऐसी कुबुद्धि क्यों अभी, फिर सोचा कि होगा कोई रहस्य। खैर, वे दोनों आये। उस समय पुष्पडाल इस वैभव को देखकर बड़े विरक्त हुए और उनका शल्य छूट गया। सोचा कि ये वारिषेण तो इतने विशाल वैभव को छोड़कर साधु हुए हैं, हमें एक ही स्त्री का शल्य क्यों हो ? यह है स्थितिकरण।

व्यवहार स्थितिकरण से अन्तःस्थिति का सहयोग—जिसके पास जो सामर्थ्य है उसके बल से कुपथ में गिरने के उन्मुख हुए पुरुषों को धर्मात्मा पुरुष स्थिर करते हैं। ऐसा स्थितिकरण का भाव रहने पर इस जीव

के ज्ञानदृष्टि जगती है क्योंकि दूसरे जीवों पर मौलिक दृष्टि रहती है तो आत्मस्वभाव की स्मृति रहती है । यदि परिवार के ही लोगों पर दृष्टि रहे और उन्हें ही आर्थिक और अन्य परिस्थितियों से मजबूत करना चाहें और करें तो उससे इसे ज्ञानमार्ग नहीं मिलता । जिससे मेरा सम्बन्ध नहीं है, जो परिवारजन नहीं है, जिनके संग से विषयसाधना की कुछ सहायता नहीं मिलती हैं ऐसे विरक्त ज्ञानी संतों की उपासना और वे कदाचित् चलित हों तो उनको धर्ममार्ग में स्थिर करना—इस उपाय से ज्ञान की दृष्टि में बल मिलता है । इस कारण यह स्थितिकरण अंग सम्यग्दृष्टि पुरुष का एक प्रधान कर्तव्य है ।

परमार्थ स्थितिकरण से मोक्षमार्ग में प्रगति—सर्व प्रथम तो यह ज्ञानी अपने आपको ही शुद्ध मार्ग में स्थित रखने का प्रयत्न करता है और साथ ही साथ अन्य धर्मात्मा पुरुषों को किसी कारण चलित देखता है तो उन्हें धर्ममार्ग में स्थित करता है । ज्ञानस्वभावी आत्मा को ज्ञानदृष्टि में स्थित बनाना यही वास्तविक सम्यग्दर्शन का फलित पुरुषार्थ है । ऐसा जो स्थितिकरण करते हैं उन जीवों के मार्ग से च्युत हुए कृत बंध नहीं होता है क्योंकि वे मार्ग से च्युत नहीं हो सकते । च्युत होने का प्रसंग आया तो ज्ञानबल से अपने आपको सावधान बना लिया अर्थात् शुद्ध ज्ञायकस्वभावमात्र में हूँ ऐसी दृष्टि को दृढ़ कर लिया और विषय कषायों से रहित वृत्ति बना कर ज्ञान के अनुभवन का परिणाम कर लिया, ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवों को मार्ग से छूटने कृत बंध नहीं होता है क्योंकि वे मार्ग से च्युत नहीं होते और ज्ञान मार्ग से च्युत न होने के परिणाम में पूर्वबद्ध जो कर्म हैं उन कर्मों में निर्जरा होती है ।

इस प्रकार स्थितिकरण अंग का वर्णन करके अब वात्सल्य अंग का वर्णन करते हैं ।

गाथा २३५

जो कुण्दि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्हि ।

सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदब्बो ॥२३५॥

वात्सल्य भाव—जो जीव मोक्षमार्ग में स्थित तीनों साधुओं आचार्य, उपाध्याय और साधुओं का जो वात्सल्य करता है वह वात्सल्यभाव सहित सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए । मोक्षमार्ग में स्थित हैं आचार्य, उपाध्याय और साधुजन । मोक्षमार्ग कहलाता है मोक्षस्वरूप शुद्ध ज्ञानस्वभाव का आलम्बन करना । इस ज्ञानस्वभाव के आलम्बन में स्थित हैं साधुजन । यद्यपि गृहस्थ भी अपनी योग्यता माफिक मोक्षमार्ग में स्थित हैं पर उनके ज्ञानस्वभाव की दृष्टि स्थिर नहीं रह पाती । कारण यह है कि आरम्भ परिग्रह का सम्बन्ध गृहस्थों के लगा है । उसकी व्यवस्था में उनका चित्त बसा रहता है । सो यद्यपि कभी-कभी अवसर पाकर उन विकल्पों से मुख मोड़कर वे निज ज्ञानस्वभाव का आश्रय करते हैं तो भी यह अवसर एक तो कम आता है और पूर्व वासना के कारण वास्तव में गृहस्थ पद में ऐसी ही परिस्थिति है सो विकल्प उठ आते हैं और यह अस्थिरता मोक्षमार्ग के आलम्बन में शिथिल बना देती है । इस कारण जो जन आरम्भ परिग्रह से विरक्त हैं आत्मतत्त्व की साधना में रत हैं उन पर वात्सल्य वत्सल आत्मा करते हैं ।

समता के पुञ्ज—शत्रु और मित्र में साधु का समतापरिणाम है, प्रशंसा और निन्दा को एक शब्दमय ही जानकर अपने स्वरूप को पृथक् समझ कर अथवा दोनों में जो समता परिणाम करता है, यश और अपयश में जिसकी यह बुद्धि है कि यह यश और अपयश चीज है क्या, दूसरे जीवों की एक परिणति । मेरे सम्बन्ध में किन्हीं पुरुषों ने यह जान लिया कि यह बहुत अच्छा है, इसी का नाम तो यश कहा जाता है । तो यह बहुत अच्छा है ऐसा जो विकल्प है वह तो दूसरे जीवों का परिणमन है । दूसरे जीव चाहे यशविषयक विकल्प करें और चाहे अपयशविषयक विकल्प करें, उनके किसी भी परिणमन से इस मुझ विविक्त आत्मा का सुधार अथवा बिगाड़ नहीं हो सकता । आत्मा का सुधार और बिगाड़ अपने आत्मा के ही भावों के अनुसार है । ऐसा जान कर साधुजनों को यश और अपयश में भी समानता रहती है ।

यदि कोई साधु का भेष रखकर समतापरिणाम को धारण न करे और प्रशंसा, निन्दा, यश, अपयश, अपनी महत्ता जानना इत्यादि में दृष्टि गड़ाता है तो उस जीव को साधु नहीं कहा जा सकता । साधु तो वह है जो केवल निज ज्ञायकस्वभाव में ही रुचि रखता हो, बाहरी लोगों की परिणति में रुचि न रखता हो, ऐसा जीव ही उन साधुओं में अपना वात्सल्य रखता है । यह है व्यवहार से वात्सल्य अंग । यह ग्रन्थ मुख्यतया साधुओं के लिए कहा गया है । इसलिए साधुओं के सम्बन्ध में वात्सल्य भाव बताया है ।

साधुजनों का धर्मरुचियों में वात्सल्य—साधुजन साधुओं में ही वात्सल्य रखते हैं ऐसा नहीं है । उनसे तो वात्सल्य रखते ही हैं किन्तु जो धर्म के रुचिया हैं, विरक्त हैं, धर्मात्मा हैं ऐसे गृहस्थ जनों में भी वे साधु यथायोग्य वात्सल्य रखते हैं । यदि साधु के गृहस्थ जनों पर वात्सल्य न हो तो वे उपदेश कैसे करें? क्या उपदेश प्रेम बिना किया जा सकता है? जो मुमुक्षु श्रावक उपदेश सुनने आएँ और साधु उनको उपदेश दें तो यह बात वात्सल्य बिना नहीं हो सकती । एक प्रभु अरहंत ही ऐसे हैं जिनकी ध्वनि प्रत्येक जीव पर अनुराग हुए बिना होती रहती है, पर आचार्य, उपाध्याय, साधु ये अभी मोक्षमार्ग में चल रहे हैं । इनके अभी मोक्षमार्ग चल रहा है, इनके अभी रागभाव नहीं समाप्त हुआ, सो ये धर्मात्मा जनों में निश्छल वात्सल्य करते हैं ।

निश्छल वात्सल्य—निश्छल वात्सल्य का अर्थ यह है कि वात्सल्य करके, उनका उपकार करके उसके एवज में अपने लिए कुछ नहीं चाहते । इसके लिए गाय और बछड़े की उपमा दी गई है । जैसे गाय का बछड़े पर निश्छल प्रेम रहता है, निःस्वार्थ प्रेम रहता है, गाय बछड़े से कुछ आशा नहीं रखती है कि यह बछड़ा मेरे बुढ़ापे में कुछ मदद करेगा, यहाँ वहाँ से घास उठाकर मेरे मुंह में धर देगा । कोई आशा नहीं रखती है पर प्रकृत्या ही गाय का बछड़े पर वात्सल्य उमड़ता है । इसी प्रकार एक साधुमी पुरुष दूसरे साधुमी पुरुष की सेवा शुश्रूषा करके वात्सल्य भाव से उसका उपकार करके भी उसके एवज में कुछ नहीं चाहता है कि मेरा भी यह कभी उपकार करे या मेरी विपत्ति में काम आए । ऐसा निश्छल प्रेम साधुमी जनों का साधुमी जनों से होता है । यह है व्यवहारमार्ग का वात्सल्य अंग ।

निश्चय वात्सल्य—निश्चय मार्ग का वात्सल्य क्या है? तो इस ही गाथा में केवल साधु शब्द का अर्थ दूसरा लेने से निकल आता है । साधु कहते उसे हैं कि जो आत्मा के कल्याण को साधे । मेरी आत्मा के

कल्याण को साधने वाला रत्नत्रयरूप धर्म है । निश्चय से सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप परिणमन ही मेरे कल्याण का साधक है । सो मोक्षमार्ग में लग रहे हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का, अपने इन निर्मल परिणामों का जो वात्सल्य करते हैं, प्रेम करते हैं, उतनी साधना बनाते हैं उन सम्यग्दृष्टि जीवों को वात्सल्य भाव युक्त जानना चाहिए ।

वात्सल्य का अर्थ—वात्सल्य शब्द भी वत्सल शब्द से बना है, और वत्स शब्द की प्रसिद्धि धर्मदृष्टि का नाता जिनसे लगा हुआ है उनमें है । जैसे घर के पुत्र आदिक को पुत्र आदिरूप से कहने का ही व्यवहार है, पर शिष्यों को मुमुक्षु बनकर आत्मसाधना के लिए आए हुए कल्याणार्थियों को वत्स शब्द का सम्बोधन करने की प्रथा है और गाय के बछड़े को भी वत्स शब्द से अधिक कहा जाता है । तो उन वत्सों में जो स्नेह लाया जाता है ऐसे स्नेह का नाम है वात्सल्य । वह वात्सल्य भाव युक्त सम्यग्दृष्टि कहा जाता है जो मोक्षमार्ग के साधक का अर्थात् निज दर्शन ज्ञान चारित्र का वात्सल्य करता है अथवा उनके आधारभूत साधुओं का वात्सल्य करता है उसे सम्यग्दृष्टि कहना चाहिए । जिसका जिससे प्रेम होता है वह प्रेमी अपना कुछ बिगाड़ और विनाश करके भी दूसरों का उपकार करता है ।

वात्सल्य अङ्ग के पालक श्री विष्णु ऋषिराज—इस अंग के पालने में प्रसिद्ध विष्णुकुमार मुनि हुए हैं । कैसा था उनका वात्सल्य कि अकम्पानाचार्य आदिक साधु संघ पर जब बलि आदिक मंत्रियों ने घोर उपसर्ग किया था—वह दिन था श्रावण सुदी तेरस या चौदश का । उपसर्ग ऐसा किया वे मुनि महाराज तो अपने ध्यान में लीन बैठे थे, और उन्हें एक बाड़ी से उन मंत्रियों ने घेर दिया । उनके चारों ओर कूड़ा करकट, अनेक दुर्गन्ध देने वाली चीजें चारों ओर से लगा दीं जिनमें आग जल्दी लग जाये । और आग लगा दी । देखो तो इतना भयानक मुनियों पर उपसर्ग करने का मूल कारण अपमान की ठेस थी । पूर्व समय में उन मुनियों में से एक मुनिराज के द्वारा उन बलि आदिक को शास्त्रार्थ में हारना पड़ा था, उसकी इतनी चोट थी कि उस समय उन्होंने अपना बदला चुकाने का निश्चय कर लिया था । किसी पुरुष को अपमानित कर देना श्रेय के लिए नहीं होता । यद्यपि वहाँ उन श्रुतसागर मुनि ने उन्हें अपमानित करने की दृष्टि से शास्त्रार्थ में नहीं जीता किन्तु एक धर्म को अक्षुण्ण बनाने के लिए कि राजा यह न कह सके कि जैन सिद्धान्त में कुछ तत्त्व नहीं है । इस दृष्टि से शास्त्रार्थ किया था । पर हुआ क्या सो बहुत खतरनाक परिणाम हुआ ।

क्या कोई जनता का आदमी ऐसा उपद्रव देखकर सह सकता है, पर विवश थी जनता । बलि के हाथ में राज्य था, घोर उपसर्ग किया, और इतना ही नहीं किन्तु इस खुशी में धर्म का ढोंग बनाकर एक अलग यज्ञ रचकर याचकों को किमिच्छिक दान देने लगा । आओ ब्राह्मणों, जो चाहो दान ले जाओ । उसका ७ दिन का तो राज्य था । सारा धन बिगड़ जाये तो उसका क्या बिगड़ा? ऐसी परिस्थिति में विष्णुकुमार मुनि ने अपनी तपस्या में भी कमी करके उन मुनियों का दुःख दूर किया था । धर्म का जब अनुराग जगता है तब रहा नहीं जाता । दूसरों का उपद्रव टालना ही चाहिए ।

शुभ अनुराग में वृत्ति—आप जब सामायिक में बैठे हों, जाप दे रहे हों और आपने यह देखा कि इस

भीत पर कीड़ा बैठा है और यह छिपकली उस कीड़े को खाना चाहती है तो प्रकृत्या आपका ऐसा यत्न होगा कि पहिले तो वहीं बैठे-बैठे छू-छू करके हाथ हिलायेंगे, जाप सामायिक तो आप कर रहे हैं पर यह दृश्य जब सामने आता है कि अमुक जीव बैठा है और यह छिपकली उसे खाना चाहती है तो अपने ही दिल से बतलाओ कि आप उस जाप की गुरिया फेरते हुए या मंत्र जपते हुए आराम से बैठे रह सकते हैं क्या? नहीं । दया का ऐसा अनुराग जगता है कि आप बैठे नहीं रह सकते हैं । यहाँ कोई प्रश्न करे तो क्या सामायिक की प्रतिज्ञा लेकर अथवा जाप में बैठकर यह क्रिया करना चाहिए? वहाँ तो मन, वचन, काय की क्रियाओं को बंद ही करना चाहिए । हाँ भाई उस जाप देने वाले को इसका पता है और ऐसा करते हुए में अन्तर से वह खेद भी मानता है और यत्न भी करता है कि मैं छू-छू करूँ या थप्पड़ी बजाऊँ, या थोड़ा झुककर कुछ उसमें घबड़ाहट पैदा कर दूँ ताकि वह कीड़ा बच जाये । ऐसा यत्न करते हुए वह अपने आपमें ऐसा विषाद भी कर रहा है और यह अनुराग का कार्य भी कर रहा है । अपना ही प्रेक्टिकल करके देख लो ।

श्री विष्णु ऋषिराज के दया की उमड़—तो विष्णुकुमार मुनिराज जिनको विक्रियाऋद्धि सिद्ध थी, जब उन्हें यह समाचार विदित हुआ कि अहो मुनिसंघ पर इतना घोर उपसर्ग हो रहा है, तो उनके यह इच्छा हुई कि यह उपसर्ग दूर किया जाये । किन्तु उन्हें अपनी ही ऋद्धि का पता न था । देखो—ऐसे समय पर विष्णुकुमार मुनिराज ने सोचा कि क्या ऐसा किया जा सकता है कि अपने ध्यान का लक्ष्य कर इस उपसर्ग को दूर कर सकें? लेकिन जब पता हुआ, जिसने समाचार दिया था उन क्षुल्लकजी ने कि विक्रियाऋद्धि सिद्ध हुई है—अपना हाथ बढ़ाया तो बढ़ता ही चला गया पर्वत तक । जान लिया कि विक्रियाऋद्धि हुई है । तो विष्णुकुमार मुनि ने उस विक्रियाऋद्धि की सिद्धि के बल से उपसर्ग को दूर करने की ठान ली ।

जैसे घर का बच्चा बीमार हो और आपका उससे प्रेम हो तो सारा धन खर्च करके भी आप उस बच्चे को बचाना चाहते हैं । जिस धन को आपने बड़े कष्ट से कमाया, बहुत दिनों में कमाया, वह धन हजारों लाखों का बच्चे की बीमारी में दो तीन दिन में ही खर्च होने को है, और खर्च करते जाना आवश्यक है, बड़ा खर्च करना पड़ता है, सो सारा खर्च कर देता है । तो विष्णुकुमार मुनि को बड़ी साधना के फल से विक्रिया ऋद्धि सिद्ध हुई थी, उस ऋद्धि सम्पत्ति के खर्च करने के लिए अर्थात् विकल्प करके उस अनुपम साधना से कुछ गिर गए । गिर जाने दो, गिरते हुए भी जान रहे हैं कि उठना किस तरह से होता है? उनको ज्ञान है ।

श्रीविष्णु द्वारा करुणासम्पादन की प्रस्तावना—वे झट गए, जहाँ बलि यज्ञ का ढोंग रच रहा था एक बामन स्वरूप रखकर । वहाँ किमिच्छक दान देने वाले बलि के आगे मंत्र और बड़ी ध्वनि से यज्ञ की बातें भी कर लीं । उस समय संतुष्ट होकर बलि कहता है कि जो तुम्हें माँगना हो माँग लो । एक तो अन्याय कर रहा है बलि और पिछला बदला चुकाने के आशय से खुश हो रहा है । और दूसरे का धन है सो खूब लुटा रहा है । ऐसी हालत में संतुष्ट होकर बलि यों कहता कि ले लो जो तुम चाहते हो । विष्णु जी बोले कि मुझे तो केवल तीन पग जमीन चाहिए । विष्णु जी मायने विष्णुकुमार मुनि । आज यह प्रसिद्ध हुआ है कि विष्णु जी ने ही तीन पैर भूमि मांगी थी । विप्र लोग जब राखी बाँधते हैं तो यह श्लोक पढ़ते हैं कि जैनराज बली बध्यो

। वहां जैन नहीं है, येन है । क्योंकि ये की जगह जै कर देने से श्लोक अशुद्ध हो जाता है । जिसने बलि राजा को बाँध लिया वह हम सबकी रक्षा करें ।

श्री विष्णु ऋषिराज की विक्रिया व साधुओं का उपसर्ग निवारण—तो तीन पग जमीन विष्णु ने माँगी । बलि राजा बोला कि तीन पग जमीन में क्या होता है, अरे कोई महल माँगो, सोना चाँदी माँगो, कोशों की जमीन माँगो । विष्णु बोले कि हमें तो तीन पग ही जमीन चाहिए । इसका उन्होंने संकल्प किया । कहा अच्छा ले लो । विष्णु ने एक टांग को तो मध्य में रखा, मानो सुमेर में, चारों ओर टांग को घुमाया, सारा मनुष्यलोक घेर लिया । विष्णु ने कहा कि अब तीसरा पग दो । इतना ही देखकर राजा बलि भय से कांप गया और कहने लगा कि महाराज अब मेरे पास और जमीन कहाँ है? उस समय का दृश्य कई दृष्टियों से बड़ा रंजक था । अंत में बलि से विष्णु ने कहा कि इन सब मुनियों का उपसर्ग इसी समय दूर करो । उपसर्ग को बलि ने दूर कर दिया । तो विष्णुकुमार मुनिराज ने अपनी साधना में शिथिलता भी करके अनेक मुनियों के प्राण बचाए । उन पर वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया ।

वात्सल्य की नींव निर्मोहता—वात्सल्य परिवार जनों पर करो तो उससे ज्ञानदृष्टि नहीं मिलती है । परिवार के जनों का भी स्मरण रहे, कुछ भी करो किन्तु उनके साथ कुछ मोह और राग का सम्बंध है तो दुःख ही है । इस कारण परिवारजनों से मोह न करो । अन्य धर्मात्माओं पर, जिनसे कोई अपना स्वार्थ नहीं निकल रहा है ऐसे धर्मात्मा जनों पर वात्सल्य करो और अपने सन्मार्ग में प्रगतिशील बनो ।

वास्तव में सगुन और असगुन—भैया ! धर्मात्मा जनों के प्रति जो वात्सल्य वृत्ति होती है वह ज्ञानस्वभाव का स्मरण कराने वाली होती है । यही सगुन है । अन्य जीवों से अनुराग बढ़ना जिनसे विषय साधनों का कुछ मतलब नहीं है, यही एक सगुन है और जिन जीवों से मोहभाव बना हुआ है उनसे स्नेह बनाए रहें यही असगुन है । सगुन वह कहलाता है जो निज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि में सहायक है और असगुन वह कहलाता है जो निज ज्ञानस्वभाव की भक्ति में बाधक है । धर्मात्मा जनों से निश्छल होकर कुछ न चाहकर वात्सल्य करना चाहिए, उसी से निर्मलता प्रकट होती है जिस निर्मलता के प्रभाव से भव-भव के बाँधे गए कर्म क्षीण हो जाते हैं ।

निज अभेदस्वरूप का वात्सल्य—चूंकि सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायकस्वभाव रूप है इस कारण वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र—इन तीनों गुणों से अपने को अभेद बुद्धि से देखता है । उत्तम वात्सल्य वह है जिसमें दूसरा अभेद साधु को दिख जाये, प्रीति में भी यही होता कि दूसरे को भी अपना मान लिया जाये । यहाँ निश्चय के वात्सल्य में यह बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणों से अपने को अभेदबुद्धि से देखना अर्थात् इस रूप ही मैं हूँ—इस प्रकार रत्नत्रय स्वरूप अपने आपको देखना सो ही वास्तव में रत्नत्रय का वात्सल्य है । जिसने अपने आपको रत्नत्रय स्वरूप देखा अर्थात् मोक्षमार्ग में वात्सल्य भाव हुआ तो उसको मोक्षमार्ग मिल ही गया ।

मार्गावात्सल्यकृत बंध का अभाव—अब इसके मार्ग न मिलने के द्वारा जो पहिले बंध चल रहा था अब

वह बंध नहीं रह गया, और चूँकि मार्ग मिल गया है, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप अपने आपके आत्मतत्त्व का अनुभव चल रहा है तो इसका मार्ग मिलने के कारण पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है। यही वास्तविक वात्सल्य है। इसके अवात्सल्य तो है नहीं, फिर बंध किस बात का? बंध उन जीवों के होता है जो अपने आपके ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वभाव में श्रद्धान न करे, रुचि न करे, इसकी खबर ही नहीं रखे, विमुख रहे और इतना ही नहीं बल्कि इसके प्रतिकूल जो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र भाव हैं इन भावों की रुचि रखे, उनका ही तो बंध होता है। सम्यग्दृष्टि के बंध के कारण मुख्य जो मिथ्यात्व है उस मिथ्यात्व का अभाव हो गया इस कारण अब उसके बंध नहीं चलता। उसके मार्ग का वात्सल्य है, उससे निर्जरा ही होती है। इस प्रकार वात्सल्य अंग का वर्णन करके अब अष्टम अंग जो प्रभावना अंग है उसका वर्णन कर रहे हैं।

गाथा २३६

विज्जारहमारूढो मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।

सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३६॥

ज्ञानप्रभावकता व विद्याओं में विद्या—जो जीव विद्यारथ पर आरूढ़ है वही मनुष्य जिनज्ञान का प्रभावक हो सकता है। प्रभावना करने के लिए लौकिक पद्धति भी ऐसी है जैसी कि कोई घोषणा करना हो, ऐलान करना हो तो रिक्शा में बैठकर, तांगा में बैठकर, रथ में बैठकर उसकी घोषणा करते हैं, ऐलान करते हैं। तो इसी तरह यह देखिए कि कोई जीव यदि निश्चय ज्ञान की प्रभावना करने को इच्छुक है तो उसकी पहिली प्रवृत्ति यह है कि वह विद्यारथ पर आरूढ़ हो अर्थात् विद्यावान बने। सर्व विद्याओं की विद्या है निज शुद्ध-आत्मतत्त्व की उपलब्धि रूप। लोक में अनेक विद्याएं हैं, रेडियो का आविष्कार किया है, उपग्रह छोड़े जा रहे हैं, और अनेक प्रकार के नवीन-नवीन आविष्कार बनते चले जा रहे हैं। इन आविष्कारों में क्या कम बुद्धि की आवश्यकता है? बुद्धि बहुत लगती है। उनका भी बहुत तीव्र विज्ञान होता है पर इतना बड़ा तीव्र विज्ञान कर लेने के बाद भी उनकी परिस्थिति को देखा जाये तो वे शांत नजर नहीं आते, क्योंकि उनकी दृष्टि परद्रव्यों की ओर है। वे पर जब तक व्यासंग में रहते हैं तब तक उस पर प्रायोगिक उपयोग है। पर की परिणति अपने आधीन तो है नहीं। पर का संयोग वियोग अपने आश्रय तो है नहीं, सो उसका वियोग हो, किसी भी प्रकार का परिणमन हो तो उसको देखकर यह जीव दुःखी होता है। सो सब विद्याओं में उत्तम विद्या है शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धिरूप। उस ही विद्यारथ पर आरूढ़ होता हुआ जो पुरुष अपने मन की वेगों को दूर करता है वही पुरुष जिनज्ञान का प्रभावक सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

निदान की कलुषता—ख्याति, पूजा, लाभ, भोग इनकी जो इच्छा है यही हुआ निदान बंध। निदान बंध को बहुत कुत्सित परिणाम बताया है। आर्तध्यान के चार भेद हैं—इष्टवियोगज, अनिष्टसंयोगज, वेदनाप्रभव और निदान। इन चारों में मुनिराज के तीन आर्तध्यान हो सकते हैं पर निदान नाम का आर्तध्यान नहीं होता है। तो समझो कि उन तीनों की वेदना से निदान की कितनी बड़ी वेदना है? कितना बड़ा निदान है?

निदान के नानारूप—निदान के अनेकरूप हैं । सबसे बड़ा रूप तो यह बताया गया है कि धर्मकार्य करके संयम, तप नियम करके परभव में इन्द्र का पद, राजा महाराजा चक्रवर्ती का पद, बड़े आराम के साधन मिलें, ऐसी इच्छा बनाना सबसे विकट निदान बंध है । और साधारणतया ऐसा भाव बनाना कि परलोक में मुझे आराम मिले, आनन्द की स्थिति मिले, सो यह भी निदान बंध है और इस भव में भी भविष्य की आगे की बात सोचना—बुढ़ापे में मुझे आराम के साधन मिलें, कुछ वर्षों बाद मेरी ऐसी बढ़िया स्थिति बन जाये कि ब्याज और किराये से ही सारा काम चलता रहे तो ऐसी इच्छा को भी निदान कहते हैं । और व्यवहारधर्म के बाह्य प्रसंगों की चाह करना, परभव में मेरा धर्मात्माओं का समागम रहे आदिक बातें सोचना यह भी तो निदान है, किन्तु इसे शुभ निदान में शामिल किया है । बंध तो है ही । शुभ निदान की अपेक्षा चौथे गुणस्थानवर्ती जीव को भी निदान नाम का आर्तध्यान कह दिया गया है, पर मुनिराज के शुभ अशुभ किसी भी प्रकार का निदान बंध नहीं चलता है ।

निदान के अभाव में ही उन्नति व शान्ति—साधुजनों की कैसी उत्कृष्ट साधना है? उनकी केवल शुद्ध निज ज्ञायक स्वरूप में ही रुचि है । उनके यह निर्णय है कि इस शुद्ध ज्ञानस्वरूप का श्रद्धान, आश्रय, आलम्बन यही आत्मा का सर्व वैभव है । आनन्द ही इस स्वभाव के आश्रय में बसा हुआ है । किसी भी परपदार्थ के अथवा परभाव के आश्रय से आत्मा में आनन्द परिणमन नहीं होता । वे सब आकुलताओं के ही कारण हैं । कोई मनुष्य किसी भी परपदार्थविषयक किसी भी व्यवस्था की दृष्टि बनाए और आशा रखे कि बाह्य में ऐसी व्यवस्था बन चुकने पर फिर तो मेरा शेष जीवन आराम में और धर्म में व्यतीत होगा, यह सोचना व्यर्थ है । परपदार्थों पर दृष्टि दें और उनसे शांति की आशा रखें, यह त्रिकाल नहीं हो सकता है ।

निदान व मनोकामना की लहरों में संकटों का नाच—ज्ञानी पुरुष शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि रूप विद्यारथ में सवार होने के कारण दुःख के कारणभूत मनोरथ के वेगों को दूर करता है, नष्ट करता है । ये चित्त में जो कल्लोलें उठती हैं उन कल्लोलों से इस जीव को बड़े कष्ट हैं । सबसे बड़ा दुःख है इस मन वाले जीव को तो मानसिक दुःख है । भूख का तो दुःख थोड़ा सह भी लिया जा सकता है, कुछ साधारण भोजन पान मिले तो उसमें भी संतोष किया जा सकता है पर यह व्यर्थ का जो मानसिक रोग है—लोग मुझे बुरा न समझ लें, मेरी प्रशंसा और नामवरी रहे, ऐसा जो भयंकर विष लगा हुआ है जिस विषपान की प्रेरणा से यह जीव विनाशीक मलिन मायामय लोगों के बीच पर्याय का नाम स्थापित करना चाहता है । यह मनोरथ का वेग बहुत भयंकर दुश्मन है ।

मनोरथों के विजयी—इस चित्त की कल्लोलों को इस ज्ञानी ने बड़े मजबूत ध्यानरूपी शस्त्र से नष्ट किया । ध्यान कहलाता है शुद्ध ज्ञान को स्थिर बनाना । चित्त को एक ओर रोकने का नाम ध्यान है । उस चित्त का अर्थ है ज्ञान । जो भी ज्ञान किया जा रहा है एक पदार्थ-विषयक उस ज्ञान को स्थिर बनाए रहना इसका नाम है ध्यान । इस ध्यानरूपी शस्त्र से इन मनोरथ वेगों को ज्ञानी पुरुष नष्ट कर देता है । सो जिसने शुद्ध आत्मा का ज्ञान किया और सर्व प्रकार की इच्छाओं को जो कि भ्रमाने के कारण हैं उनको दूर किया, अपने मन की

वेगों से राग-द्वेष की कल्लोलें उठ रही हैं उनको अपने ही ध्यानरूपी खड्ग से नष्ट किया वे ही पुरुष जन ज्ञान के प्रभावक सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं ।

वास्तविक प्रभावना—सम्यग्दृष्टि जीव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक भाव स्वरूप है उसने अपने ज्ञान से समस्त शक्तियों को लगाकर, जगाकर अपनी पर्याय के अनुरूप अपने को विकसित किया, इसलिए वह प्रभावनाकारी जीव है । जैनधर्म की अथवा वस्तु विज्ञान की, मोक्षमार्ग की प्रभावना यह जीव रत्नत्रय तेज से ही कर सकता है । कहते हैं धर्म की प्रभावना करो । किसकी प्रभावना करना है? धर्म की । तो धर्म का जो स्वरूप है वह जीवों की समझ में आए, यही प्रभावना कहलायेगी । समारोह होना, उत्सव मानना, ये सब इस प्रभावना के सहकारी कारण हैं । ये स्वयं प्रभावना नहीं हैं । जिसकी प्रभावना करना है वह लोगों के चित्त में बैठे तो प्रभावना कहलाती है । प्रभावना करना है धर्म की । धर्म कहते हैं वस्तु के स्वभाव को । उपदेश के द्वारा अथवा साधु पुरुषों की मुद्रा के द्वारा जो जीवों पर यह छाप पड़ी, प्रभावना पड़ी कि अहो ! सब विकल्पों से पृथक् ऐसे साधु हैं, ऐसा ज्ञान और आनन्द रह जाना ही धर्म का पालन है । यह बात जिन उपायों से प्रसिद्ध हो सके, बस उन ही उपायों के करने का नाम प्रभावना है ।

परमार्थप्रभावना वस्तुविज्ञान—जब तक जीव का यह वस्तुस्वरूप परिज्ञान में न आयेगा कि प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र-स्वतंत्र अपनी सत्ता लिए हुए हैं और उन सबमें परिणमते रहने का स्वभाव पड़ा हुआ है, वे अपनी इस परिणमनशीलता के कारण निरन्तर परिणमते रहते हैं । भले ही किसी पदार्थ के विकाररूप परिणमन में अन्य पदार्थ कुछ भी निमित्त हों और यह बात सच है कि किसी परपदार्थ का निमित्त पाये बिना विकारपरिणमन नहीं होता है । इतना सम्बंध होने पर भी वस्तु के चतुष्टय को देखो तो निमित्तभूत पदार्थों का न द्रव्य, न गुण, न पर्याय कुछ भी उसके प्रदेश से बाहर नहीं निकलता । किन्तु ऐसा ही अद्भुत निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त को पाकर स्वयं ही अपनी परिणति से विकाररूप परिणम जाते हैं । ऐसी वस्तु में रहने वाली स्वतंत्रता का उद्घोष जब तक अपने आपके हृदय में नहीं होता है तब तक समझो कि इन जीवों की दृष्टि में धर्म की प्रभावना नहीं उतरी ।

प्रभावना की अज्ञानविनाशपूर्वकता—अज्ञान अंधकार को दूर हटाकर जिनशासन की महिमा को प्रकट करना सो प्रभावना है । प्रभावना में सबसे मुख्य काम है अज्ञान अंधकार मिटाना । यह न मिटे तो प्रभावना क्या हुई? बड़ा समारोह किया, बड़ा श्रृंगार किया, सजावट की, जलूस निकाला तो इससे तो केवल यह प्रभावना होगी कि लोग यह जान जायेंगे कि समाज में पैसा बहुत है और ये खर्च भी दिल से करते हैं । उनको जो बात समझ में आयेगी उसकी ही तो उनके हृदय में प्रभावना कही जायेगी । हमें करना है यदि धर्म की प्रभावना ज्ञान की प्रभावना तो धर्म क्या है, ज्ञान का स्वरूप क्या है—ये बातें उतारने का प्रयत्न किया जाये ।

प्रभावनीय तत्त्वज्ञान—यह तो लोगों को एकत्रित करने का और किसी मूर्ति मुद्रा का दृश्य दिखाने का अवसर जोड़ता हुआ । यह भी ठीक है । इस अवसर में प्रभावना तब हो जब दर्शकों के चित्त में यह बात

उतरे कि वस्तुओं का स्वरूप स्वतंत्र है। जीव और अजीव ये दो तत्त्व हैं। जब यह जीव ज्ञानस्वभाव में नहीं रहता है, किसी बाह्य पदार्थ को रुचिपूर्वक ग्रहण करता है तो वहाँ यह विह्वल हो जाता है, दुःखी होता है, संसार में घूमता है, उससे उपाधियों का कर्मों का आस्रव होता है, बंध होता है, और यह जीव इन सब परदृष्टियों से हटकर केवल ज्ञान प्रकाशमात्र अपने स्वभाव में अपने उपयोग को जोड़ता है तो इसके कर्म छूटते हैं, शांति मिलती है, परमविकास होता है। सारे विश्व को जान जाये, ऐसी जो ज्ञान में शक्ति पड़ी हुई है उस शक्ति का वहाँ विकास हो जाता है, इत्यादिक हित की बातें दर्शकों के चित्त में घर न कर पायें तो बड़ा समारोह करके भी धर्म की प्रभावना तो नहीं की, किन्तु समाज की प्रभावना की। इस समाज के लोग बड़े पैसे वाले हैं, अपने मजहब के पीछे ये दिल जान से खर्च करते हैं। जो बात दर्शकों के चित्त में आयी प्रभावना उसकी कही जायेगी। दर्शकों के चित्त में धर्म ही उतरे तो धर्म की प्रभावना है, और उनके चित्त में केवल सजावट, श्रृंगार और खर्च ही उतरे तो इनकी ही प्रभावना है।

ज्ञान की कला पर हमारे भविष्य की निर्भरता—प्रभावना के विषय में समंतभद्रस्वामी ने यह बताया है कि अज्ञानरूपी अंधकार को दूर करके फिर यथायोग्य जिनशासन का माहात्म्य प्रकट करना उसको ही प्रभावना कहते हैं। हम आपका अलौकिक वैभव ज्ञान है। सारे सुख दुःख आनन्द इस ज्ञान की कला पर ही निर्भर हैं। हम इस ज्ञान से कैसा जानें कि सुख होने लगे और इस ही ज्ञान से कैसा जानें कि दुःख होने लगे। और इस ही ज्ञान से कैसा जानें कि सुख दुःख के विकल्पों से रहित होकर शुद्ध आत्मीय आनन्द का अनुभवन करें? ये समस्त बातें अपने ज्ञान पर निर्भर हैं। कहाँ है यह ज्ञान? अपने में ही तो है और अपने ही आधीन है। हम उस प्रकार के जानने में तुल जाँँ जिस प्रकार के जानने से मोक्षमार्ग मिलता है तो क्यों न मिलेगा मोक्षमार्ग? हम ऐसे ज्ञान पर तुल जाँँ कि जिससे शांति ही मिलती है तो क्यों शाँति न मिलेगी? पर हम ही स्वच्छन्द होकर पुण्य के उदय से पाया है ना अच्छा शरीर, पुण्य के उदय से पाया है ना धन और इज्जत, तो उसको पाकर हम अपने आपके स्वरूप को भूल जाँँ और परपदार्थों में ही कुछ से कुछ विकल्प बनाकर वहाँ ही कुछ का कुछ परिणमन चाहने की धुन रखें तो उसमें शाँति नहीं प्राप्त होती। इस सम्बन्ध में यदि और अधिक न बन सके तो कम से कम इतना तो ध्यान रखते रहें कि ये सब मेरी त्रुटियाँ हैं, और अधिक न बन सके तो इतना चित्त से न भुलावें, हम गृहव्यवस्था करते हैं तो आत्मा के नाते, यह भी मेरी त्रुटि है। हम धनार्जन करते हैं तो यह भी आत्मा के नाते से त्रुटि है। हम लोगों में एक पोजीशन से या शान से रहते हैं यह भी आत्मा के नाते से त्रुटि है। हमारी बाहर की जितनी भी चेष्टाएँ हैं वे सब चेष्टाएँ आत्मा के नाते से त्रुटियाँ हैं। इतनी बात ध्यान में बनी रहती है तो हम सुधार के मार्ग पर हैं। हम भूले हुए तो नहीं कहलाये।

सर्वोत्कृष्ट प्रवृत्तियों में भी अनात्मवृत्तिपने का साधु के विश्वास—साधुजन जो उच्च विकास के होते हैं वे साधुपद के योग्य क्रियाएँ करके भी सामायिक किया, दर्शन किया, वंदन किया, समितियों का पालन किया, जो उनके और गुण हैं उन सब गुणों का निर्वाह किया, इतना करने पर भी अन्तर में वे समझते हैं कि आत्मा

के नाते से ये सब मेरी त्रुटियां हैं। कितना है उनके स्पष्ट ज्ञान? आगे खड़े होकर, हाथ चलाकर, पिछी सिर पर रखकर घुमाना क्या यह आत्मा का कोई गुण है? आत्मा का कोई स्वाभाविक परिणमन है? नहीं है। नहीं है तो क्या यह त्रुटि नहीं है? यह उच्च ज्ञानी साधुओं के ज्ञान की विशेषता की बात बतला रहे हैं। जिसको व्यवहार में साधु भी समझते हैं और करते हैं। करते हुए भी यह जानते हैं कि आत्मा के नाते से ये दर्शन, वंदन, स्तवन, समिति पालन, ये सारी प्रवृत्तियाँ आत्मा के नाते में नहीं बसी हुई हैं, किन्तु इन प्रवृत्तियों से भी रहित आत्मतत्त्व की उपलब्धि करने के लिए इन प्रवृत्तियों को करते हैं।

सम्यग्दृष्टि के आत्मशक्तियों का प्रबोध—वस्तुस्वरूप का यथार्थ निर्मल परिज्ञान होना और उसके अनुकूल भावना बनाकर निज शुद्ध ज्ञानस्वभाव में उन्मुख होना, यही है प्रभावना। ज्ञानी जीव चूंकि अपने को एक ज्ञायकस्वरूप निश्चल मानता है इसलिए समस्त शक्तियों को वह जगा देता है। अपनी आत्मशक्तियों का विकास एक ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व को दृष्टि में लेने से स्वयमेव हो जाता है। धर्म के लिए हम बाह्यपदार्थों पर दृष्टि दे देकर धर्म का संचय करना चाहें तो यह न हो सकेगा किन्तु धर्ममूर्ति एक निज शुद्ध ज्ञानस्वभाव की दृष्टि करें और तन्मात्र अपना विश्वास बनाएँ तो इस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना के प्रताप से परमार्थ में भी धर्म का पालन है और उसकी जो भी तन मन वचन की चेष्टाएँ होंगी वे इस धर्म के अनुकूल होंगी।

ज्ञानस्वभावभावनारूप प्रभावना का उत्तम परिणाम—प्रभावना वास्तव में अपने अज्ञान अंधकार को दूर करना ही है। जो जीव ऐसे अपने ज्ञान की प्रभावना करता है उस जीव के इस जाति का बंध नहीं होता है। ज्ञान की जो प्रभावना नहीं कर रहे हैं ऐसे जो जगत के अनन्त जीव हैं, वे जो बंध करते हैं वह बंध इस सम्यग्दृष्टि के नहीं होता, किन्तु उसके उपयोग में ज्ञानस्वभाव की प्रभावना बनी हुई है इसलिए निर्जरा ही होती है। सीधा तात्पर्य यह है कि हम अपने को सेठ हूँ, मनुष्य हूँ, पंडित हूँ इत्यादि रूप न निरखकर केवल एक ज्ञान प्रतिभासमात्र हूँ ऐसी भावना बने तो अपने में ज्ञान की प्रभावना होती है और कर्मों की निर्जरा होती है।

ज्ञानी जीव के निर्बन्धता—यह प्रकरण निर्जरा का है। कर्म न आयें और कर्म खिरें ऐसी निर्जरा से मोक्ष का मार्ग मिलता है। और जो कर्म खिर रहे हैं उन्हीं के ही निमित्त से नवीन कर्म आ जायें तो उसे मोक्षमार्ग की निर्जरा नहीं कहते हैं। जो कर्म बंध गए हैं वे खिरेंगे तो अवश्य, पर अज्ञानी जीव के ऐसा उदय में आता है कि जिससे और नवीन कर्मों को बाँध लेता है। किन्तु ज्ञानी जीव के उदय तो होता है पर उदयकाल में अज्ञानमयता का पुट न होने से वह नवीन कर्मों का सम्वरण नहीं करता। यह द्रव्यानुयोग का प्रधान कर्तव्य है। इसमें जो बंध हो भी रहा है उस बंध की गौणता की गई है। करणानुयोग में तो जहाँ थोड़ा भी बंध हुआ उसे बंधरूप स्वीकार करके कथन चलता है किन्तु इस द्रव्यानुयोग ग्रन्थ में जो संसार का प्रयोजक है, जो संसार की परम्परा बढ़ाने का कारणभूत है उसे बंध कहा है। वह बंध ज्ञानी जीव के नहीं होता है इसलिए निर्बन्ध है।

निवृत्तिपरक प्रवृत्ति—जैसे कोई पुरुष तेज दौड़ लगा रहा हो, और दौड़ लगाते हुए में उसे यह ज्ञान आ

जाये कि हम रास्ता भूल गए हैं। भूल गया वह रास्ता, और इस ज्ञान के होते ही कि हम भूल गए इसके बाद भी कुछ दूर तक शिथिल रूप में दौड़ता तो है पर दौड़ना हटने का अभिप्राय लगा हुआ है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव के भी उदय भाव बंध ये चलते भी रहते हैं कुछ पदों तक किन्तु वे सब हटने का भाव लिए हुए हैं।

शुद्धात्मभावना भावनिर्जरा का उपादान कारण—ऐसी सम्बर प्रयोजक जो भावनिर्जरा है उसका उपादान कारण क्या है, उसका इन अंतिम गाथाओं में वर्णन है। यह जो ८ अंगों का वर्णन चला है यह निश्चय की मुख्यता से चला हुआ वर्णन है। अपने आत्मा के विशुद्ध परिणामों को जगाता हुआ, उन्हीं को लक्ष्य में लेता हुआ वर्णन है। तो भावनिर्जरा का उपादान कारण क्या है? शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना।

आद्य चार अङ्गों का उपादान—निःशंकित अंग में शंका नहीं रहती है। निर्भयता हो गयी उसका कारण क्या? शुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि इस ज्ञानी जीव के जगी। मैं केवल ज्ञानस्वरूप हूँ, समस्त परपदार्थों के सत्त्व से अछूता केवल अपने स्वरूपमात्र हूँ, ऐसी दृष्टि जगे तो निःकांक्षित अंग प्रकट होता है। उसमें विभावपरिणामों की वाञ्छा न रही तो इसका कारण क्या है कि उसे शुद्ध ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप का परिचय हुआ है। निर्विचिकित्सा अंग में अब वह इन्हीं विभावपरिणामों के कारण अंतर में म्लान नहीं होता। जैसे बुझा दिल सा। कुछ मार्ग न सूझे, कायर बन जाये, कर्तव्यविमूढ़ हो जाये, ऐसी स्थिति न उत्पन्न हो, उसका कारण है यही शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना। इसी प्रकार अमूढ़दृष्टि अंग में वह कुधर्मों में मोहित नहीं होता। उसका कारण है कि उसे अपने शुद्ध स्वभाव का परिचय मिल चुका है और दृढ़ निर्णय है कि हित का मार्ग है तो इस ही सहज ज्ञानस्वरूप का आश्रय है।

उपगूहन अंग का उपादान—उपगूहन अंग में जो धर्मात्मा जनों से ईर्ष्या नहीं होती है उनके अवगुणों को मौजूद हो अथवा न हो, प्रसिद्ध नहीं करता है, और ऐसा यत्न करता है कि उन धर्मात्मा पुरुषों में भी ये अवगुण नहीं रहे, ये सब किसके प्रताप से हो रहे हैं? उसका कारण है कि उसे अपने आपके शुद्ध स्वरूप का परिचय मिला है। ईर्ष्या तो तब होती है जब स्वयं में पर्यायबुद्धि हो। ऐसी दृष्टि हो कि इससे मेरा बिगाड़ है, अथवा इसके बढ़ने से हमारा उत्कर्ष न रहेगा। तो पर्याय में जिसको आत्मबुद्धि है वह ही पर्याय को 'यह मैं, यह मैं' ऐसा लक्ष्य में लेकर ईर्ष्या किया करता है। ज्ञानी जीव के धर्मात्माजनों से ईर्ष्या नहीं होती है। तब वह दोषों को क्यों लोक में प्रकट करेगा और इस शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना के कारण ऐसा उत्साह जगा रहता है कि समस्त अपनी आत्मशक्तियों को जगाये बना रहता है।

अन्तिम तीन अङ्गों का उपादान—इसी तरह स्थितिकरण अंग में यह अपने आपको रत्नत्रय मार्ग में लगाये रहता है। कदाचित् कर्मोदय से कुछ अपने मार्ग से च्युत भी हो रहा हो तो भी च्युत नहीं हो पाता। उस वातावरण में शीघ्र ही अपने ज्ञानबल का आश्रय लेता है और अपने को धर्ममार्ग में स्थापित करता है। यह किसका प्रताप है? शुद्ध आत्मतत्त्व के परिचय का प्रताप है। अपने गुणों में वात्सल्य होना; अपने शुद्ध ज्ञान चारित्र के विकास में रुचि जगना—ये बातें भी तो इस शुद्ध ज्ञायक स्वरूप के परिचय से बनी हैं। वह

अपने को प्रभावित करता है, ज्ञानादिक के विकास से उन्नतिशील करता है, इसका भी कारण शुद्धज्ञायक स्वरूप का परिचय है। यों ८ अंगों का निश्चयदृष्टि से इसमें वर्णन किया है।

सम्यग्दर्शन के व्यावहारिक अङ्ग—एक बात और इन्हीं सब लक्षणों में साथ-साथ झलक जाती है कि इस निश्चय परिणाम का साधक व्यवहार परिणाम भी है। निश्चयरत्नत्रय का साधक व्यवहाररत्नत्रय है। उस व्यवहाररत्नत्रय में भी शुद्ध जो सराग सम्यग्दृष्टि जीव हैं उनमें भी ये सब लक्षण घटित करते जाना चाहिए। सराग सम्यग्दृष्टि हो, वीतराग सम्यग्दृष्टि हो उसमें जो अपने मोक्षमार्ग को प्रेरणा मिलती है वह शुद्ध ज्ञानमय आत्मस्वरूप के परिचय से मिलती है। उस सम्यग्दृष्टि के राग है इसलिए उसे सराग सम्यग्दृष्टि कहते हैं। राग होने पर कुछ न कुछ विकल्प होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि राग का फल ही है कि कुछ विकल्प बनें। यदि सराग सम्यग्दृष्टि जीव के कोई धर्ममार्ग में चलते हुए विकल्प बनते हैं तो किस प्रकार के व्यवहाररूप ८ अंगों के विकल्प बनते हैं? सो सुनिये।

सम्यग्दृष्टि का व्यवहार निःशंकित अंग—सम्यग्दृष्टि को यह दृढ़ निश्चय है कि जिनेन्द्रदेव के परमागम में जो कुछ वर्णन किया गया है वह पूर्ण सत्य है। चाहे उन वर्णनों का वर्णन न जान सके, मगर मूलभूत श्रद्धा उसके रहती है। इस श्रद्धा के होने का मोटे रूप में क्या कारण है? इस ज्ञानी जीव ने सर्वज्ञ स्वरूप का, ७ तत्त्वों के विषय में जिसमें कि युक्तियां चलती हैं, अनुभव काम देता है, पूर्ण निर्णय किया है कि ७ तत्त्वों का स्वरूप इस ही प्रकार है। अभी स्वर्गों का वर्णन किया जाये तो वह सही वर्णन है, इसके जानने का आपके पास क्या प्रमाण है? सिवाय आगम में लिखा है इतना ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष नहीं दिखता कि स्वर्ग और नरक कहाँ हैं? युक्ति भी कोई समझ में नहीं आती है? कोई वहाँ गया हो और आया हो, वह बात करता हो तो उसका कुछ विशेष अनुमान बने। जैसे कि अभी रूस और अमेरिका नहीं गए, फिर भी निश्चय तो है कि वे हैं। क्या इस ढंग से स्वर्ग और नरक का भी निश्चय है? नहीं। इस प्रकार का प्रमाण आगम के सिवाय और कुछ नहीं मिलता, लेकिन इस आगम की प्रमाणता से स्वर्ग और नरक का निर्णय करने का प्रमाण उसके पास दृढ़ है।

स्वर्गादि परोक्षपदार्थों के कथन में सत्यता के विश्वास का कारण—इसकी दृढ़ता का कारण यह है कि सर्वज्ञ निरूपित ७ तत्त्वों के बारे में पूर्ण निर्णय किए हैं कि यह कथन सत्य है। जो चीज अनुभव में उतर सकती है, प्रयोजनभूत है वह कथन जब रंच भी असत्य नजर न आया और उनके अतिरिक्त चरणानुयोग या नाना प्रकार की पद्धतियां, जब उनमें असत्यपना नजर न आया तो सर्वज्ञदेव द्वारा निरूपित ऐसे पदार्थ जो हमारी दृष्टि से अत्यन्त दूर हैं, जिनमें हमारी इन्द्रियाँ काम नहीं देती, वे सब भी पूर्ण सत्य ही हैं, क्योंकि जिन ग्रन्थों में प्रयोजनभूत तत्त्वों का ऐसा स्पष्ट सत्य वर्णन है उनका अन्य परोक्षविषयक कथन भी सत्य है। ऐसे सत्य के प्रणेता रागद्वेष रहित वीतराग ऋषिसंतों को, सर्वज्ञ देवों को ऐसी क्या पड़ी है जो झूठमूठ लिख दें। ऐसा नहीं हो सकता। इस कारण स्वर्ग नरक तीनों लोक इन सबकी रचना भी पूर्ण प्रमाण है। निःशंकित अंग में यह व्यावहारिक रूप से कथन किया जा रहा है कि ज्ञानी जीव को जिनेन्द्र वचन में रंच शंका नहीं

होती।

पर के अयोग्य वचन देखकर भी सर्वज्ञ कथन में शंका का अभाव—किन्हीं ग्रन्थों में ऐसा भी लिखा मिल सकता है जो कि एक व्यर्थ जैसी बात हो क्योंकि ग्रन्थ तो बाद में अनेकों ने लिखे हैं। जो विधि से खिलाफ हो, और अपने को झूठ जंच जाये तो उस ज्ञानी के मन में यह नहीं आता कि देखो सर्वज्ञदेव ने झूठ भी बता दिया, किन्तु मन में यह आता है कि यह उनकी परम्परा का वचन नहीं है। यह किसी ने बीच में जोड़ दिया है, लिख दिया है; पर सर्वज्ञ के वचनों में रंच शंका हो जाये ऐसा ज्ञानी जीव का भाव नहीं है।

भोगों में इच्छा का अभावरूप निःकांक्षित अङ्ग—निःकांक्षित अंग में भोग विषयों की वाञ्छा नहीं है। ठीक है, किन्तु वाञ्छा २ तरह से होती है। एक तो होती है लगकर, सोचकर, अन्तर में अनुराग करके, और एक वाञ्छा होती है उदयवश, परिस्थितिबश। सो ऐसे ज्ञानी को सोचिये जो गृहस्थी में रह रहा है, क्या उस गृहस्थ ज्ञानी के कोई इच्छा ही नहीं पैदा होती? व्यापार चल रहा है, लेन-देन हो रहा है, इतनी बड़ी व्यवस्था बन रही है, भोजन बना रहा है, दूसरों को जिमा रहा है, खुद जीम रहा है, दूसरों को जीमने के लिए बुला रहा है, कितनी तरह की सुरक्षा की बातें कर रहा है, क्या ये सब बिना इच्छा के हो रही हैं? इच्छा तो है उस गृहस्थ ज्ञानी में, पर एक भी ऐसी इच्छा अंतरंग में नहीं है कि मैं ऐसा कर लूं तो सदा के लिए सुरक्षित हो जाऊँगा, इसके बाद फिर मुझे कोई झंझट नहीं रहेगी इत्यादिक भाव उसके नहीं है, उसके तो ऐसा भाव है कि मुझे यह करना पड़ता है, मेरे करने योग्य काम तो अपने आत्मा को निर्विकल्प समता रस से परिपूर्ण आत्मीय आनन्द से तृप्त होने का था, पर उदय और परिस्थिति ऐसी है कि ये सब कार्य करने पड़ते हैं। सो एक तो अंतर में से इच्छा नहीं जगती।

धर्म के फल में भोग की इच्छा का अभाव—दूसरी बात यह है जैसे कि छहढाला में लिखा है *वृष धारि भवसुख वाञ्छा भाने*। धर्म को धारण करके संसार के सुखों को न चाहना। जिसको संसार के सुखों में आसक्ति है वह इन्द्रिय सुख की ओर ही दृष्टि लगाता है। धर्म भी करता है तो उससे सांसारिक सुख मिलता है ऐसी श्रद्धा से करता है। मंत्र जपे, तंत्र करे, पूजन करे, विधान करे, त्याग करे, दान करे और-और भी बड़े-बड़े धार्मिक कार्य करे, जो भी कार्य वह करता है, इस आशा से करता है कि इससे हमें पुण्य मिलेगा, सांसारिक सुखों का समागम मिलेगा। ऐसी बात ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होती है।

व्यवहार निर्विचिकित्सक अंग का पालन—इस प्रकार निर्विचिकित्सक अंग में सराग सम्यग्दृष्टि जीव का निर्विचिकित्सक अंग का पालन इस रूप होता है कि कोई धर्मात्मा जो रत्नत्रय का अनुरागी है, आत्मस्वरूप का रुचिया है, केवल एक आत्महित की ही धुनि जिसने बनायी है ऐसे पूज्य ज्ञानी संतों की सेवा करते हुए में कोई अपवित्रता मल आदिक की स्थिति हो जाये—जैसे कि कथा में प्रसिद्ध है कि एक देव ने परीक्षा की थी उद्दायन राजा की कि देखें तो सही कि इसके निर्विचिकित्सक अंग है या नहीं। सो उसने साधु का रूप धरकर वमन कर दिया, फिर भी उद्दायन राजा ने ग्लानि नहीं की। यह तो बहुत दूर की बात है, पर सेवा

करते हुए में शरीर से कोई दुर्गन्ध आती हो, मल चलता हो, ऐसी भी शरीर की स्थिति हो तो भी ग्लानि न करना चाहिए। और तो जाने दो, शरीर की चमड़ी कड़ी हो जाती है, फट सी जाती है, ऐसे शरीर में सेवा करते हुए में हाथ फेरने में कोई लोग कष्ट का अनुभव करते हैं, पर कैसी भी स्थिति हो, धर्मात्मा पुरुषों की सेवा करते हुए में कष्ट नहीं मानना चाहिए, ग्लानि न करना चाहिए। यह रूप ज्ञानी पुरुष का व्यावहारिक निर्विचिकित्सा अंग के पालन में होता है।

व्यवहार अमूढदृष्टि अङ्ग का पालन—चौथा अंग है अमूढदृष्टि। इस अमूढदृष्टि अंग के पालन में सराग सम्यग्दृष्टि जीव का कैसा व्यावहारिक परिणामन है, लोक में अनेक तांत्रिक मांत्रिक संन्यासी बड़े-बड़े चमत्कार वाले पुरुष, जैसे कि आजकल इसकी प्रथा ज्यादा सुनी जाती है कि कोई ४८ घंटे की समाधि लगाता, कोई २४ घंटे की समाधि लगाता, कोई १२ घंटे की समाधि लगाता और वे अपना प्रदर्शन भी करते हैं, लोग जुड़ते हैं, बड़े ऑफीसर उन्हें देखते हैं, उनकी प्रशंसा करते हैं। ऐसे चमत्कारों को देखकर भी इस ज्ञानी पुरुष का चित्त विचलित नहीं होता है कि मुझे भी यही चाहिये, सत्य बात यही है और तिरने का उपाय भी यही है, कल्याण का मार्ग भी यही है। ऐसा भाव ज्ञानी पुरुष के नहीं जगता है।

अमूढदृष्टि के अन्तर्विचार—जो कुछ है, देख लिया, जान लिया, सुन लिया, पर हित के सम्बन्ध में तो उसका यह निर्णय है कि आत्मस्वरूप का परिज्ञान होना, विश्वास होना और उस ही शुद्धस्वरूप में रमना, इन प्रक्रियाओं को छोड़कर मोक्ष का कल्याण का शुद्ध आनन्द का कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसे सराग सम्यग्दृष्टि जीव को इन प्रसंगों को देखकर भी दृढ़ निर्णय रहता है। वीतराग सम्यग्दृष्टि जीव के तो ये सब पालन एक निश्चयमार्ग से अपने आपके शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना में चलता रहता है। व्यावहारिक रूप आता है तो अनुराग जगने पर आता है। वीतरागता के भाव में यह व्यावहारिक रूप नहीं आता है।

व्यवहार उपगूहन अङ्ग का पालन—उपगूहन अंग में इस सराग सम्यग्दृष्टि जीव का ऐसा व्यवहार है कि वह धर्मात्मा पुरुषों के दोषों को अर्थात् धर्म के दोषों को नहीं प्रकट करता है। धर्म और धर्मी कोई भिन्न-भिन्न जगह नहीं होती है। सो धर्मी के दोष को जनता में प्रसिद्ध नहीं करता है अर्थात् धर्म को लांछित नहीं करता है। और इसके उपाय में कितनी ही विधियाँ करनी पड़ती हैं उन्हें भी वह करता है। जैसे प्रथम तो यह है कि धर्मात्माजनों में कोई दोष हो, न हो उसे तो जानकर कहता ही नहीं है पर दोष हो भी, तो भी उसे जनता में प्रसिद्ध नहीं करता और उन्हीं साधुजनों को एकान्त में कहता है, उन्हीं से निवेदन करता है।

सर्वथा अयोग्य दोष होने पर समाज का कर्तव्य—किसी के दोष ऐसा प्रबल हो जाये कि व्यवहारधर्म भी बिगड़ रहा हो ऐसी परिस्थिति में, और अनेक बार समझाया जाने पर भी वह नहीं छोड़ता है अवगुण तो ऐसी परिस्थिति में वह सबके बीच सम्मति करके निर्णय करता है, एक अंतिम परिणाम घोषित कर देता है, यह मेरा साधु नहीं है ऐसा जनता को पता हो जाये और इसके बाद फिर उनकी निन्दा चले या अटपट प्रवृत्ति चले तो उससे जनता में यह प्रभाव न हो सकेगा कि इनके धर्म में ऐसा ही देखा जाता है। हम उन्हें अपना साधु मानें, धर्मात्मा मानें ऐसा जनता समझे और फिर दोष हो तो जनता यह कह सकेगी कि इनके धर्म में

ऐसा ही होता है। इसलिए धर्म के लांछन को दूर करने के लिए धर्मात्मा पुरुषों के कितने ही प्रकार से यत्न होते हैं पहिले छोटा यत्न फिर मध्यम यत्न। जब वश का ही नहीं रहा कुछ तो अंतिम यत्न यह है कि साधु की अयोग्य परिस्थिति हो जाये तो उन्हें अलग कर देना, बहिष्कार कर देना, किन्तु इसे प्रकट देना। जैसे कहीं-कहीं सुना जाता है कि किन्हीं साधु को कपड़े पहिना दिया। ये विधियां भी कभी करनी पड़ें तो यह भी उपगूहन अंग में शामिल है। धर्म में दोष है ऐसा जनता न समझ सके ऐसे प्रयत्न को कहते हैं उपगूहन।

वात्सल्य और प्रभावना का व्यावहारिक पालन—वात्सल्य में यह सम्यग्दृष्टि धर्मात्माजनों में निश्छल वात्सल्य रखता है, सेवा करता है और प्रभावना अंग में उत्सवों द्वारा, समारोहों द्वारा कितनी ही प्रकार से पाठशालाएँ खुलवा कर ज्ञान दान देकर जैन शासन की प्रगति करता है। सराग सम्यग्दृष्टि के अनुराग के फल, ऐसा व्यवहार होता है, सो ये समस्त व्यवहार रत्नत्रय है। यह व्यवहार अंग का प्रयोग निश्चय अंग का साधन है, बाधक नहीं। जितने भी निश्चयधर्म में प्रतिकूल भाव हैं वे व्यवहारधर्म नहीं हो सकते। और जो ऐसे हमारे व्यवहारधर्म हैं जो निश्चयधर्म की साधना का अवसर देते हैं वे सब व्यवहारधर्म हैं। यों अष्ट अङ्गों का इसमें वर्णन किया है। इस प्रसंग में अब व्यवहार और निश्चय के सम्बन्ध में प्रश्नोत्तर है, इसको फिर कहेंगे।

निश्चयनय से तत्त्व की दृष्टि—यदि जैन मत के रहस्य को प्राप्त करना चाहते हो व्यवहारनय और निश्चयनय इन दोनों के मत को न छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय छोड़ने से तो तीर्थ नष्ट हो जायेगा और निश्चयनय छोड़ने से तत्त्व ही नष्ट हो जायेगा। निश्चयनय वस्तु के सहज स्वरूप की दृष्टि कराता है और जैसा सहजस्वरूप मात्र अपने को रहने में कल्याण है, जिसका शुद्ध विकास अंतिम साध्य है उसको निश्चयनय लक्ष्य में कराता है तो निश्चयनय का विषय ही न ज्ञात हो, निश्चयनय को छोड़ दिया जाये तो तत्त्व ही क्या रहा?

व्यवहारनय से तीर्थ की प्रवृत्ति—अब निश्चयनय के तत्त्व को ज्ञान से तो जान लिया, अब जो जाना गया तत्त्व है उस तत्त्व में स्थिर होना है अथवा यों कहो कि जैसा है वैसा ही जानते रहना है तो इस स्थिति को करने की जीव में वर्तमान पर्याय में सामर्थ्य है नहीं, अनादि से कषायों का संस्कार चला आ रहा है, उनकी वासनाएं इसको इस शुद्ध तत्त्व की दृष्टि से विचलित कर देती है, इस जीव का उपयोग विविध आश्रयों में घूमता रहता है। ऐसी स्थिति वाले ज्ञानी पुरुष को अब क्या करना चाहिए जिससे निश्चयनय से ज्ञात किए हुए तत्त्व पर इसकी स्थिरता हो सके। तो उसके लिए इन शब्दों में कर्तव्य कह लीजिए कि जो फंसाव इसके हो गए थे उन फंसावों से अलग होना चाहिए। फंसावों से अलग होना एकदम बन नहीं पाता है सो उन्हें कम करना चाहिए। फंसाव हैं विषय और कषाय के। विषय और कषायों से बचने के लिए जो अनुकूल कार्य किए जाते हैं उन्हीं का ही नाम व्रत और संयम है। यही व्यवहारधर्म है। इससे तीर्थ की प्रवृत्ति होती है।

व्यवहारनय के त्याग से तीर्थ के उच्छेद की प्रसक्ति—यह पुरुष चले नहीं तो बड़ी अच्छी बात है, और

अगर चले तो अपने को जीवों को सबको भूलकर क्या अटपट चलना चाहिए? नहीं। अपनी भी सावधानी, दूसरे जीवों की भी दृष्टि रखकर समितिपूर्वक चलना चाहिए। यह वृत्ति ज्ञानी के बनती है इस ही का नाम तो व्रत है, व्यवहारधर्म है। राग उठता है इस ज्ञानी जीव के; तो क्या उस राग से परिवार के, कुटुम्ब के विषयों के पोषण में ही लगना चाहिए? नहीं। राग उठता है तो ऐसी जगह राग लगाओ कि जहाँ अपने स्वरूप के दर्शन की अपात्रता न हो। जैसे जो सिद्ध हुए हैं और जो सिद्ध होने के प्रयत्न में लग रहे हैं ऐसे जो परमेष्ठी हैं उनका अनुराग आ जाये, उनकी भक्ति में लगें, यही तो काम करने में आ पड़ता है ज्ञानी को, यही व्यवहारधर्म है। तो व्यवहार धर्म को यदि छोड़ दें तो तीर्थ सब समाप्त हो जाएं अर्थात् तिरने का उपाय खत्म हो जाये। तत्त्व में स्थिर होने का मार्ग नष्ट हो जायेगा इसलिए व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म इन दोनों को न छोड़ना चाहिए।

व्यवहारों की नानारूपता—जब तक जैसी बुद्धि है, योग्यता है तब तक उस प्रकार का व्यवहार है। व्यवहार भी पदों की अपेक्षा नाना प्रकार के चलते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि का व्यवहार प्रवर्तन और श्रावक का, मुनि का व्यवहार प्रवर्तन जुदा-जुदा है और जो श्रेणी में स्थित हैं ऐसे साधुजनों को जब तक कि रागभाव है उनका प्रवर्तन, व्यवहार और प्रकार का है। फिर जब रागभाव समाप्त हो जाता है, निष्कषाय परिणमन ले जाता है ऐसे प्रभुओं का व्यवहार प्रवर्तन शुद्ध विकास रूप ही है। तो इन दृष्टियों से देखा जाये तो जो द्रव्य हैं वे सब व्यवहार में हैं। जीवद्रव्य को देखा जाये तो यावत् जीव है, वे सब व्यवहार में हैं, परंतु व्यवहार पदवियों की अपेक्षा भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न प्रकार का है। और पहिले पद का व्यवहार छूटता जाता है, फिर आगे बढ़ने पर उस पद का भी व्यवहार छूट जाता है। इस तरह से यह व्यवहार छूटता जाता है, अंत में शुद्ध ज्ञाताद्रष्टामात्र व्यवहार रहता है।

प्रभु का व्यवहार—प्रभु के व्यवहार के सम्बन्ध में हम ऐसी चर्चा किया करते हैं कि केवली भगवान निश्चय से तो स्व को जानता है और व्यवहार से पर को जानता है। ऐसा जानने के सम्बन्ध में निश्चय और व्यवहार वाली बातें केवली भगवान में ही नहीं है, हम भी, आप भी निश्चय से स्व को जानते हैं और व्यवहार से पर को जानते हैं। अन्तर यह है कि मिथ्यादृष्टि जीव तो जिस रूप में स्व को जानता है उस ही रूप में जानता है और प्रभु जैसा रूप प्रभु में है उस रूप में जानता है। परपदार्थों का जानना उपचार से ही कहा जाता है, अर्थात् इस दृष्टि से इन बातों को लेना है कि कोई भी जीव परपदार्थों में तन्मय होकर अर्थात् पर का परिणमन और अपने परिणमन को एक करके नहीं जानता है इसलिए पर का जानना व्यवहार से कहा है। तो जहाँ इससे भी और मोटे किन्तु टेढ़े व्यवहार लगे हैं वहाँ उन सर्वजीवों के विषय में इस जानन सम्बंधी निश्चय-व्यवहार को न बताकर प्रभु के सम्बंध में जानन का निश्चय-व्यवहार बताया जाता है।

सर्व पदार्थों में निश्चय-व्यवहारमयता—भैया ! व्यवहार तो जब तक द्रव्य है तब तक चलता है, पर ज्ञानी जीव की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वह परमार्थ से तो निश्चय का ही आश्रय लिए है, और उपाय में यथायोग्य व्यवहारधर्म का आलम्बन लिए है, पर उससे ऊंची वृत्ति जगने पर उस व्यवहार से भी परे हो जाता है। इस

प्रकरण में यह बताया जा रहा है कि दोनों को समझो और जहाँ जैसी पदवी है, जहाँ जैसी स्थिति है उसके अनुरूप निश्चयमार्ग में बढ़कर बाह्य और व्यवहारनय के आश्रय को तजिए । यह सब संवरपूर्वक निर्जरा बताई गयी है ।

निश्चयमार्ग में बढ़ने पर पूर्व-पूर्व व्यवहारमार्ग का त्याग—इस सम्यग्दृष्टि जीव के शुद्धआत्मा का सम्यक् श्रद्धान करना, ज्ञान करना—अनुष्ठान करना इस रूप निश्चयरत्नत्रय के प्राप्त होने पर निश्चयरत्नत्रय का लाभ होता है और वीतराग जो धर्मध्यान, शुक्ल ध्यान है, जहाँ कि शुभ और अशुभ सर्व प्रकार की बाह्य वस्तुओं का आलम्बन नहीं है, ऐसी निर्विकल्प समाधि होने पर निश्चयरत्नत्रय के मध्य परमसमाधि का लाभ होता है । जीव की ऐसी स्थिति में जहाँ किसी भी परजीव विषयक राग न हो, किसी परद्रव्यविषयक विकल्प न हो, केवल आत्मीय ज्ञानानन्दरस से छका हुआ हो, जो समाधि होती है वह समाधि अत्यन्त दुर्लभ है ।

निगोद से निकलकर दुर्लभ देह पाकर अन्त में मनुष्यभव की दुर्लभता—देखिए इस जीव ने कैसी-कैसी श्रेष्ठ बातें पाते-पाते आज यह स्थिति पायी है । प्रथम तो निगोद से निकलना कठिन है । यह निगोद एकेन्द्रिय जीव का एक भेद है । वह निगोद से निकला तो बाकी स्थावर जीवों के भव से निकलना कठिन है । निकला तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय इनमें आना कठिन है, फिर पंचेन्द्रिय होना कठिन है । पंचेन्द्रिय में संज्ञी बनना और बड़ी चीज है, संज्ञियों में पर्याप्त बन जाना और कठिन बात है । पर्याप्त संज्ञी होने पर भी मनुष्य बनना और कठिन बात है, मनुष्य भी बन गए तो देश में कितने मनुष्य हैं । और लोग यह शंका करते हैं कि हमने तो यह सुना है कि मनुष्य होना बड़े पुण्य का काम है और आजकल जनसंख्या बढ़ती चली जा रही है तो पुण्यवान बहुत उत्पन्न हो रहे हैं क्या? तो ऐसे मनुष्यों की बात नहीं कही जा रही है, इसे तो यों समझो कि जिन जीवों ने पुण्य किया और अच्छे मनुष्य बनना था, वे विदेह में या अन्य जगह उत्पन्न होने थे, उनसे कोई दुराचार पाप बन गया तो ऐसे पापी जीव यहाँ पैदा होने के लिए मानो भेजे जा रहे हैं । ऐसे मनुष्य बन गए तो क्या, न बन गए तो क्या?

मनुष्यभव में भी दुर्लभ दुर्लभ स्थिति पाकर भी धर्म ग्रहण की दुर्लभता—मनुष्यों में भी अच्छे देश वाले होना दुर्लभ है, अच्छे कुल वाले होना दुर्लभ है, अच्छे रूप वाला होना दुर्लभ है, फिर इन्द्रियों की सावधानी होना दुर्लभ है, फिर निरोग होना दुर्लभ है, फिर उत्तम आचरण मिलना दुर्लभ है । देखो निगोद से लेकर कैसी-कैसी दुर्लभ चीजें पाते हुए आज अपन ऐसी स्थिति पर आ गए, इतने पर भी धर्म का श्रवण मिलना कठिन है । धर्म का श्रवण करने वाले पुरुषों की संख्या देखो । अभी कोई सिनीमा होने लगे चाहे बाहुबलि का ही क्यों न हो तो कितनी बड़ी संख्या जुड़ जायेगी, और बाहुबलि का वृत्तान्त जो कि शास्त्रों में है उसके सुनने वाले लोगों की संख्या देखो कितनी है? बिल्कुल ही कम संख्या हो जाती है । धर्म का श्रवण कर सके यह दुर्लभ चीज है । धर्म भी सुनने पर धर्म का ग्रहण कर लेना, बुद्धि में उस बात का समा जाना यह दुर्लभ चीज है ।

धर्मग्रहण करने के बाद भी दुर्लभ दुर्लभ साधना पाकर अन्त में समाधि की दुर्लभता—भैया ! धर्म को

ग्रहण भी कर लिया तो अब उस चीज की धारणा बनाए रहना, भूलना नहीं, यह तो और दुर्लभ बात है। मान लो वैसा ज्ञान भी कर लिया जाये तो उसका श्रद्धान होना कठिन है। यह ऐसा ही है, अन्य प्रकार नहीं है ऐसा विश्वास भी हो जाये, श्रद्धान भी हो जाये तो उस पर चलना याने संयम का पालन करना कठिन है। संयम में भी लग जाये तो विषय सुखों से बिल्कुल मुख मोड़ लेना यह कठिन है। विषय सुखों से मुख मोड़ भी लिया तो क्रोधादि कषाय न आए यह बात कठिन है। जैसे मान लो साधु हो गए, विषयसुखों से मुख भी मुड़ चुका, ये सारी बातें आ गईं पर क्रोध कषाय रंच भी न हो यह और कठिन है। इतनी भी बात हो और ऐसी ही धारणा बनी रहे यह और कठिन है और फिर सबसे अत्यन्त कठिन है समाधिमरण। सब कुछ हो गया पर समाधिपूर्वक अंत में मरण न हो सका, क्लेश, संक्लेश ही बने रहे तो ऐसे समय में चित्त चलित हो जाता है, और चाहे जो क्लेश हों पर चित्त चलित न हो, समाधिमरण हो यह कितनी कठिन बात है?

दुर्लभ सिद्धि के बाधकों में मूल बाधक मिथ्यात्व भाव—परम्परा से बड़ी दुर्लभ-दुर्लभ बात पाकर अन्त में समाधि पाना बड़ी कठिन बात है। क्यों दुर्लभ हो गया कि विभाव परिणाम प्रबल हो गया, पहिले तो मिथ्यात्व देखो कितना प्रबल है? सबको देखो तो कोई किसी धुन में है, कोई किसी धुन में है। ये अच्छा फैशन बनाकर सुन्दर कपड़ों से सजकर, केश सजाकर तिस पर भी मन को संतोष नहीं होता तो मुख पर पाउडर लगाकर, ओठों में लाल-लाल लिपिस्टिक लगाकर निकलती है। उन बेचारों को क्या यह पता नहीं है कि देखने वाले तो आखिर यह सोचते होंगे कि देखो कैसी मूर्खता है, इस प्राकृतिक शरीर को भूलकर राख और रंग लपेटना, इनकी कैसी दृष्टि है? इस अज्ञानता को क्या देखने वाले न जानते होंगे? दूसरे मन में हमारी मूर्खता पर हँसते होंगे ऐसी बात शायद वे जानती भी होंगी, मगर फिर भी सुन्दरता इसी में समझती हैं। तो इन जीवों में पहिले तो यह मिथ्यात्व भाव ही प्रबल है।

दुर्लभ सिद्धि के बाधक विषय, कषाय व निदान—फिर विषय कषायों का भाव प्रबल है, फिर ख्याति का, पूजा का, वैभव लाभ का, भोगों की इच्छा का, निदान बंध का—ये समस्त विभाव प्रबल हैं, तब अत्यन्त दुर्लभ जो धर्म का धारण है, संयम का पालन है, तपस्या की भावना है, समाधिमरण की भावना है, वे कहां से जगे। सो दुर्लभ से दुर्लभ इस स्थिति को प्राप्त करके भी न चेतें तो यह जानना चाहिए कि बहुत ऊँचे चढ़ा हुआ व्यक्ति गिरे तो जैसे उसके चोट लगती है इसी प्रकार से ऐसे मन, ऐसे कुल, ऐसी सम्पदा को पाकर भी यदि विषयों से पतित हुए, कषायों से पतित हुए तो समझो कि हमारी उतनी निम्नदशा हो जायेगी जितनी कि निम्न दशा असंज्ञी को भी मरने के बाद नहीं मिलती है।

मरकर मनुष्य का सर्वत्र गमन संभव—असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव पहिले नरक से नीचे जाकर उत्पन्न नहीं होते हैं, और ये कर्मभूमिया मनुष्य मरकर ७वें नरक चले जायें, निगोद चले जाएँ और सिद्ध बन जाएँ, इनकी समस्त गतियां खुली हुई हैं। मनुष्य की तरह किसी जीव को सब जगह पैदा होने का अवसर नहीं है। देव मरकर देव नहीं होगा, नारकी नहीं बनेगा, भोगभूमिया न बनेगा, वह कर्मभूमिया में ही आयगा। कुछ देव मरकर एकेन्द्रिय भी हो सकते हैं। इसी प्रकार सभी जीवों को कैद है कि मरकर वे कुछ ही भवों में पैदा हो

सकते हैं, पर मनुष्य भव के लिए कैद नहीं है। कौन-सा ऐसा पद है, कौन-सा ऐसा स्थान है जहाँ मनुष्य उत्पन्न न हो सके?

रत्नत्रय की उत्पत्ति और वृद्धि—भैया ! दुर्लभ से दुर्लभ ऐसे साधनों का अवसर पाया है तो इस अवसर को पाकर अब ऐसा यत्न करना चाहिए कि हित हो, समाधिमरण हो और अपने स्वरूप में स्थिति हो। इस बात के करने में साधक संयम है। आचरण बिना कुछ बात नहीं हो सकती। जहाँ सम्यग्दर्शन शुरू होता है आचरण भी उसी समय से शुरू हो जाता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र—इन तीनों की उत्पत्ति किसी न किसी रूप में एक साथ होती है। फिर अणुव्रत है, महाव्रत है, ये विशेषताएं चलती हैं पर अंकुर तीनों का एक साथ होता है। सम्यग्दर्शन में सम्यग्दर्शन तो है ही, और सम्यग्ज्ञान हो गया, ज्ञान तो था ही, सम्यक्त्व होते ही वह ज्ञान सम्यक् कहलाने लगा और सम्यग्दर्शन होते ही स्वरूप की दृष्टि हुई, प्रतीति हुई, इस प्रकार का स्वरूपाचरण भी हुआ। कुछ तो तत्त्व पर दृष्टि गई। तत्त्व पर दृष्टि के लगने का नाम आचरण है। अब चारित्र यह बढ़ाना है कि वहाँ स्थिर रह सकें।

ज्ञातृत्व की स्थिरतारूप सम्यक् चारित्र—स्वरूप सम्बोधन में जहाँ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र का लक्षण कहा है वहाँ बताया है सम्यक्चारित्र के लक्षण में कि ज्ञाता द्रष्टा बने रहने की स्थिति का नाम सम्यक्चारित्र है। तो वास्तव में चारित्र देह की क्रिया नहीं है, क्योंकि वह तो आत्मा का धर्म है। चारित्र तो जो आत्मा का शुद्ध स्वरूप है उस शुद्धस्वरूप में ही उपयोग की स्थिरता के हो जाने का नाम चारित्र है, चारित्र का आधार आत्मा है, देह नहीं है क्योंकि चारित्र गुण है आत्मा का, इसलिए चारित्र का विकास आत्मा में होगा, चारित्र का विकास आत्मा की परिणति से होगा।

व्यवहारचारित्र धारण करने का कारण—प्रश्न—व्यवहारचारित्र क्यों करना होता है? उत्तर—व्यवहारचारित्र धारण करने का कारण यह है कि हम विषयकषायों से मलिन हैं तो जब हमारे संस्कार विषय-कषायरूप बने हुए हैं तो राग तो बराबर चल रहा है ना, तो उस राग का कहां उपयोग हो? उपयोग तो करना ही होगा, ऐसी स्थिति में राग का उपयोग विषय-कषायों में न हो किन्तु ऐसे परद्रव्यों में हो जो शुद्ध हो, जिनमें किया हुआ अनुराग हमें भुलावे में न डाले, जो वास्तविक चारित्र है उसके धारण करने की पात्रता बनी रहे, वहाँ राग करना चाहिए। इसी के फल में दया में, अहिंसा में, गुरुभक्ति में, देवभक्ति में राग होता है तो यह राग उस अशुभ भाव के काटने के लिए हुआ, इसलिए यह व्यवहार धर्म किया जाता है।

व्यवहारचारित्र की स्थिति में भी लक्ष्य की सावधानी की प्रधानता—इस व्यवहार धर्म को करते हुए प्रत्येक ज्ञानी को, प्रत्येक व्रती को यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारा व्यवहारधर्म करने का लक्ष्य है निश्चयतत्त्व में उपयोग को स्थिर बना लेना। इस लक्ष्य का यदि पता न हो तो व्यवहार धर्म विडम्बना बन जाता है। और इस लक्ष्य का पता हो तो व्यवहारधर्म हमारे चारित्र में साधक हो जाता है। इस प्रकार परम्परा से दुर्लभ से दुर्लभ ऐसी स्थिति में आए हैं। इस स्थिति में आकर हमें समाधि में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि का निर्मल ज्ञानप्रकाश और प्रताप—अब इस अधिकार के अंत में अमृतचंद्रजी सूरि एक कलश में कह रहे हैं—*रुन्धन् बंधं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरङ्गैः, प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन । सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तं, ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ।* सम्यग्दृष्टि जीव स्वयमेव अपने निजी रस में मग्न होता हुआ आदि, मध्य, अंत कर रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञान होकर आकाशवत् निर्मल, निर्लेप शुद्ध ज्ञानप्रकाश के निःसीम भूमि में प्रवेश करके अपने सहज स्वाभाविक विलास से विलास करता है । ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव नवीन बंध को तो इस ज्ञान और वैराग्य के बल से रोकता है और पहिले के उन बंधनों को निश्चय अष्ट अंगों की वृत्ति द्वारा नष्ट करता है ।

धर्माश्रय में प्रमादी न होने का कर्तव्य—सो भैया ! अत्यन्त दुर्लभ रूप इन धर्मों को प्राप्त करके अर्थात् सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र को प्राप्त करके यदि यह जीव प्रमादी होता है तो संसाररूपी भयावह वन में फिरता है, वह जीव बेचारा असहाय वराक बनकर चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है । अतः इस उच्चतर स्थिति में हम सबको धर्माश्रय करने में रंच भी प्रमादी नहीं होना चाहिये ।

कर्मों का भेषपरित्याग—इस प्रकार इस निर्जराधिकार में ये जो कर्म अपना भेष लेकर आये थे सो अब ज्ञान की दृष्टि में वह आ गया कि वास्तविक पदार्थ तो यहाँ यह है। इसका तो यह भेष और यह रूप यों बन गया है ऐसी तत्त्व के मर्म की बात इस प्रभु ने जान ली । तो जानने के कारण ये पार्ट अदा करने वाले अपना काम छोड़कर, अपना पार्ट छोड़कर, नीरस बनकर निकल जाते हैं और वहाँ पर उपयोगभूमि शांत रस के वातावरण में शांत हो जाती है।

इस निर्जराधिकार के इस प्रकरण से हमें मुख्यतया क्या-क्या बातें जाननी चाहिये, वे बातें इन्हीं ग्रन्थों में संकेत रूप में यथा तथा प्रकरण दिए गए हैं । उन कर्मों को करने से, वैसा ज्ञान बनाने से, दृष्टि बनाने से यह जो कर्मों का ऊधम है, जिनसे हम दुःखी होते हैं वे सब संकट शांत हो सकते हैं और हम इस मोक्षमार्ग में आगे बढ़ सकते हैं ।

॥ इति नवम भाग समाप्त ॥